आपातकाल के समय हिन्दी पत्रकारिता:
धर्मयुग के विशेष संदर्भ में।

(एम० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध - प्रबंन्ध)

शोध- निर्देशक
प्रो० केदारनाथ सिंह

शोध- छात्र
स्वतंत्र कुमार जैन

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा सस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - ११००६७ भारत
१९९७

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

10. जुलाई. 1997

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि स्वतंत्र कुमार जैन द्वारा प्रस्तुत "आपातकाल के समय हिंदी पत्रकारिता : धर्मयुग के विशेष संदर्भ में ।" शीर्षक लघु शोध - प्रबंध में प्रयुक्त सामग्री का इसके पूर्व इस विश्वविद्यालय या किसी भी अन्य संस्थान में, किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है । यह स्वतंत्र कुमार जैन की मौलिक कृति है ।

प्रो० मैनेजर पाण्डेय
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110 067

प्रो० केदार नाथ सिंह
शोध -निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्याल
नई दिल्ली-110 067

समर्पण

मम्मी

पापा को

अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या
कुछ आगे की, कुछ पीछे की	आ - इ
अध्याय - एक	1 - 29
प्रस्थान के बिंदु : समस्याओं का रेखांकन	
अध्याय - दो	30 - 57
आपातकाल, अभिव्यक्ति, पत्रकारिता और परिदृश्य	
(1) 1975 तक हिंदी पत्रकारिता और पत्रकार : दिशा और दशा	
(2) 1970-80 के दशक का आर्थिक, सामाजिक, ऐतिहासिक परिदृश्य	
(3) आपातकाल, लोकतंत्र और अभिव्यक्ति	
अध्याय - तीन	58 - 117
आपातकाल और धर्मयुग	
(1) आपातकाल में धर्मयुग : भूमि और भूमिका	
(2) आपातकाल और हिंदी के पत्रकार	
अध्याय - चार	118 - 128
कहा - अनकहा	
ग्रंथानुक्रमणिका	129 - 136
परिशिष्ट (क) प्राथमिक स्रोत	
परिशिष्ट (ख) द्वितीयक स्रोत	

कुछ आगे की, कुछ पीछे की

कुछ पीछे की, कुछ आगे की

भक्ति आंदोलन के अध्ययन के समय मुझे यह लगातार महसूस होता रहा है कि किसी भी समाज को समझने के लिए उसके संकट समय का अध्ययन करना चाहिए। 'आपातकाल के समय हिंदी पत्रकारिता' विषय का चुनाव ऐसी ही दृष्टि का परिणाम है। और फिर अतीत की रोशनी से ही तो वर्तमान को समझा जा सकता है। अतीत के बिना वर्तमान तो अंधेरे से ज्यादा कुछ नहीं है। निश्चित रूप से आज आपातकाल को उस दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, जो 1977 में संभव था। लेकिन यह बात अध्ययन में बाधा कहीं से नहीं है। क्योंकि आपातकाल का जैसा चेहरा यहां से देखा जा सकता है, वैसा उस समय नहीं दिख सकता था।

आपातकाल एक तरह की तानाशाही थी। हर तरह की तानाशाही और सर्वसत्तात्मक शासन सबसे पहले सूचना के साधनों पर नियंत्रण करके इसके मुक्त आदान प्रदान को रोकते हैं तथा विचार स्वातंत्र्य को नहीं पनपने देना चाहते। इस तरह पत्रकारिता और पत्रकार अर्थात् प्रेस पर नियंत्रण इस शासन के कामयाब रहने की एक बुनियादी शर्त होती है।

प्रसिद्ध संचार विश्लेषक हेराल्ड लासवेल ने लिखा है कि अपेक्षित कार्य भाषा को तथा भाषा अपेक्षित कार्य को प्रभावित करती है। इसलिए पत्रकारिता के संदर्भ में आपातकाल का अध्ययन मुझे लगता है कि इस समय को समझने का एक बेहतर उपकरण हो सकता है।

पहले अध्याय में मैंने जानबूझकर कोई हदें नहीं बनाई हैं। यूं पूरे शोध में ही यह वृत्ति लक्ष्य की जा सकती है, लेकिन पहले अध्याय में विशेषकर मैंने अपने को खुलने दिया है। राजनीतिशास्त्र अथवा कानून का विधिवत विद्यार्थी न होने का यह अच्छा अथवा बुरा परिणाम है।

निष्कर्ष देने से मैंने परहेज किया है क्योंकि निष्कर्ष तो निकल ही आते हैं। पहले वह संवाद आवश्यक है जो निष्कर्ष को सही बनाने के लिए आवश्यक होता है। हां, आपातकाल के बाद अपने समाज में व्याप्त `चुप्पी की संस्कृति` तथा `विचार का डर` डराने की हद तक पहुंच गए हैं। साहित्य का विद्यार्थी और हिंदी का शोधकर्ता होने के नाते इन सब चीजों ने भी मुझे आपातकाल के अध्ययन को प्रेरित किया। उद्देश्य यही है कि अपने समाज और राष्ट्र की इस संकट की घड़ी को समझ सकूं तथा यह भी कि `आपातकाल` मेरे मन में हमेशा एक `भय` बना रहे, कभी स्वीकृति में न बदल पाये। इन्हीं सब के वशीभूत अंतिम अध्याय में कुछ निष्कर्ष नुमा वक्तव्य भी देखने को मिल सकते हैं। लेकिन हैं ये भी संवाद का हिस्सा ही।

मुझे यह कोई मुगालता नहीं है कि यह शोध संवाद में `मील का पत्थर` होगा ही, लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि मुझे अपने काम पर भरोसा नहीं है। अपने हिसाब से मैं अचूक हूं। जो कहा उसके बारे में, और जो नहीं कहा उसके बारे में भी।

दूसरे अध्याय में सामाजिक-आर्थिक-ऐतिहासिक परिदृश्य के विस्तार में जाने से जानबूझ कर बचा गया है। क्योंकि यह अनावश्यक लग रहा था। और फिर ये अपने आप में अलग से शोध की मांग करता है।

तीसरे अध्याय में धर्मयुग का अध्ययन और पत्रकारों के साक्षात्कार हैं। यह आशा और निराशा का मिलाजुला अनुभव था। साक्षात्कारों को मैंने एक संक्षिप्त पीठिका के साथ जैसा का तैसा रख देना उचित समझा है।

जो हुआ, उसके लिए आभार व्यक्त करना मुझे एक औपचारिकता भर लगती है। क्योंकि मुझे नहीं लगता कि मैं जो लिख रहा हूं, वो सब `मैं` लिखता हूं, बल्कि मैं माध्यम भर हूं। ... फिर कुछ शिक्षकों, मित्रों ने मुझे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से कई स्तरों पर, कई तरीकों से रचा है, सहा है और मेरी सारी ऊर्जा को एक दिशा दी है। जिनमें दो शिक्षकों, डा० मैनेजर पाण्डेय और डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल के नाम तो निश्चित रूप से लिये जा सकते हैं।

मेरे शोध निर्देशक और आकाशधर्मा गुरु केदारनाथ सिंह ने मेरे ऊल जलूल तर्कों को सुना, सुधारा और सराहा और इस तरह मुझे यह विश्वास दिया कि मैं यह काम कर सकूं ।

केदार जी की उपस्थिति मेरे लिए एक तरह से रचनात्मक स्वतंत्रता की गारंटी की तरह रही । बिल्कुल उस सीमा तक जैसे किसी राष्ट्र के संविधान में संशोधन से परे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लेख उस राष्ट्र के जनमानस में सरकार के खिलाफ बोलने का विश्वास और साहस दे देता है । विषय के चुनाव से लेकर अंत तक सहज ही यह लक्ष्य किया जा सकता है ।

मानस गुरु कृष्ण कुमार (प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय) से मैंने विषय के चुनाव से लेकर, इस कालखण्ड को समझने के लिए सामग्री की जानकारी व सहायता ली, जिनकी अनुपस्थिति में यह शोध शायद ही पूरा होता ।

मेरे मित्रों अनिल, सुजीत, विजय, परितोष, दिलीप वसंत, चंद्रशेखर राम, चंद्रशेखर राव्त, मोहित, संजय तिवारी, संजय गौतम, अनूप, त्रिभुनाथ, अनिल सिंह, अनिल त्रिपाठी, बंदना तथा सुरेखा ने अपने अपने तरीके से यथोचित सहायता की । इनमें से कोई मुझसे धन्यवाद लेना नहीं चाहता ।

मेरे विश्वविद्यालय के पुस्तकालय ने अनेक सहायक ग्रंथों तथा अन्य सामग्री के रूप में मेरी भरपूर सहायता की । पुस्तकालय के कर्मी विशेषकर लाइब्रेरियन बी. एन. राव तथा मलिक जी काफी सहयोगपूर्ण रहे । मैं इनको हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूं । लेकिन इसके साथ यह भी मैं कहना चाहता हूं कि प्राथमिक स्रोत के लिए मेरे विश्वविद्यालय का पुस्तकालय मेरी बहुत सहायता नहीं कर सका । क्योंकि यहां हिंदी के समाचार पत्र और उनकी कतरनें नहीं रखी जातीं । पत्रिकाएं कुछ अवश्य हैं, पर यहां मेरे लिए जरूरी कालखण्ड के `धर्मयुग` में सिर्फ छ: महीने के `धर्मयुग` ही मुझे मिल सके । इसके अलावा

मैं नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, भारतीय जनसंचार संस्थान तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के केंद्रीय पुस्तकालय का भी आभारी हूं जिनकी मैंने यथोचित सहायता ली । साथ ही मैं टंक्क बी. पी. भाटिया को भी धन्यवाद देना चाहता हूं जिन्होंने इस सहजता और शीघ्रता से इस काम को इतने सुंदर ढंग से पूरा किया ।

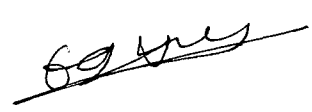

स्वतंत्र कुमार जैन

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

अध्याय - एक

प्रस्थान के बिंदु : समस्याओं का रेखांकन

अध्याय - 1

प्रस्थान के बिंदु : समस्याओं का रेखांकन

आपातकाल हमारे राष्ट्र-राज्य के संविधान की जायज संतान था और आपातकाल का मूक-प्राय अनुपालन हमारे समाज की वास्तविकता । ये हमारे समाज के ऐसे कठोर सच हैं जिनसे टकराए बिना हम लेखक, साहित्यकार, चिंतक, आलोचक, पत्रकार की भूमिका तो दूर, नागरिक और मानव के उत्तरदायित्व भी ठीक से नहीं निभा सकते । आपातकाल आखिर राज्य की शक्ति या बल प्रयोग का नंगा प्रदर्शन था, जिसे कानूनन वैधता प्राप्त थी तथा `तंत्र` के इस ताकत प्रदर्शन को `लोक` उसे अपने दोनों मात्र हथियारों से - अर्थात् बलपूर्वक विरोध और अभिव्यक्ति का प्रयोग करके उसे रोक तो क्या, एक कामयाब असहमति भी नहीं दर्ज करा सका था । आपातकाल के बाद इंदिरा गांधी ने कहा था[1], `कहीं विरोध की एक चिंगारी भी नहीं थी, बड़े विशाल दावानल की बात ही छोड़िए ।` या फिर जब तब उछाला जाने वाला उन का यह प्रिय प्रश्न कि `कितने लोगों बुद्धिजीवियों - अध्यापकों - नौकरशाहों ने विरोध में त्यागपत्र दिया था ?`

समाज, अथवा व्यक्ति की आंतरिक सामर्थ्य की परख संकट के समय ही होती है और इस समय ही उसे समझा जा सकता है । आपात काल एक ऐसा

---

1. `लेस्ट वी फारगेट`, विदुर, जुलाई 95, पृष्ठ 4, साली सोराबजी

समय था, जिसके माध्यम से हम राष्ट्र, राज्य, समाज, व्यक्ति, मानव, अभिव्यक्ति, प्रेस, लोकतंत्र, संवेदना के निर्वतमान-वर्तमान सम्बन्धों की तलाश कर सकते हैं ।

मानव जाने-अनजाने कुछ मूल्यों का वाहक और दास होता है । आपात-काल जैसी बड़ी घटना के बारे में आज तक व्याप्त हमारे समाज की यह चुप्पी, विशेषकर हिंदी समाज-पत्रकारिता[1] का यह मौन कुछ भी कहने से ज्यादा कहता है ; और उन मूल्यों की ओर संकेत करता है जिसे हिंदी समाज - मीडिया वहन कर रहा है । अभिव्यक्ति का यह ह्रास हिंदी समाज में मानवीय बल की दीनता की ओर संकेत करता है तथा हिंदी मीडिया की प्रकृति भी बताता है ।

लोकतंत्र भारत में किन्हीं विद्रोहों और विकास का परिणाम नहीं, वरन् ऊपर से आरोपित की गई एक व्यवस्था है । जिस वर्ग ने इसे आरोपित किया है तथा जिसने इसको आगे विस्तार दिया है, उसने अपने कार्य को सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण माना । इसलिए उसने सबसे ज्यादा विशेषाधिकार, पुरस्कार, सम्मान के अवसर तथा संसाधन अपने लिए सुरक्षित कर लिए । जाहिर है कि विभिन्न कार्यों की महत्ता तय करने तथा उसके अनुसार पुरस्कृत करने की जिम्मेदारी भी इसी के पास आई । और बकौल कुलदीप नैयर[2] नौकरशाही और उद्योग-पतियों (उत्पादन की शक्तियों) के इस समाज को आकार देने की प्रक्रिया में

---

1. उल्लेखनीय है अंग्रेजी में न केवल आपातकाल पर पुस्तकें उपलब्ध हैं, वरन् अंग्रेजी पत्रिका `सेमीनार` ने आपातकाल के तुरंत बाद फरवरी 1977 से लेकर नवम्बर 1977 तक आपातकाल से जुड़ी घटनाओं पर ही विशेषांक निकाले । जैसे फियर एण्ड फ्रीडम, इमेज आव इमरजेन्सी, इलेक्शन, करेक्टिव्स, एट्रोसिटीज़, री-थिंकिंग, जनता फेज़, वर्ल्ड अलाईनमेंट, पोलिस, एक्शन अजेन्डा तथा 20 साल पूरे होने पर टी.आर.ओ
2. कुलदीप नैयर, जजमेंट, पृ0 65

शैक्षिक और बौद्धिक जीवन तथा कार्य से जोड़ने का कोई प्रयास नहीं किया गया । अर्थ और ज्ञान के इस विच्छेद ने संवेदना के ह्रास और सघन उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया । दिशाहीनता और नकल की प्रवृत्ति तो पनपी ही ।

पर लोकतंत्र में यह अवसर रहता है कि जो लोग इन निर्णयों से सहमत न हों ; सम्मान, विशेषाधिकार और सामाजिक उत्पादन के इस वितरण से असहमत हों, वे अपना पक्ष प्रस्तुत कर सकें तथा विरोध करें । आपातकाल को हम लोकतांत्रिक प्रक्रिया के फलस्वरूप उपजी इन असहमतियों, विरोधों और परिवर्तन की संभावनाओं को खत्म और दरकिनार करने की कोशिश के रूप में देखते हैं । उल्लेखनीय है कि जे. पी. के आंदोलन(जो कि मूलतः गुजरात और बिहार में छात्र आंदोलन के रूप में प्रारंभ हुआ था) के प्रमुख मुद्दे चुनाव की प्रक्रिया में सुधार, शिक्षा व्यवस्था में सुधार तथा भ्रष्टाचार अर्थात् व्यवस्था और व्यवस्था के सूत्रधारों का मनमाना व्यवहार पर रोक ही थे ।

प्रफुल्ल बिदवाई[1] ने आपातकाल के आतंक युग के चार महत्वपूर्ण आयामों की चर्चा की है । प्रथम आपातकाल की घोषणा इंदिरा गांधी का इलाहाबाद हाईकोर्ट के निर्णय के बरक्स सत्ता में बने रहने का मार्ग था । द्वितीय आपातकाल अभिव्यक्ति और असहमति की स्वतंत्रता के दमन का सबसे मुखर और क्रूर रूप था । तृतीय, इसने लोकतांत्रिक प्रक्रिया को सबसे सामान्य और दैनिक स्थल पर निलम्बित और दमित किया । चतुर्थ, इसने निर्वाचित राजनेताओं की जगह, जिनमें कई भ्रष्ट व प्रभावहीन थे, सावधानीपूर्वक चुने गए, दबंग, क्रूर नौकरशाहों को तरजीह देने की प्रक्रिया को बड़े स्तर पर बढ़ावा दिया । विशेषकर राज्य और जिला स्तर पर । ये चारों परस्पर सम्बद्ध हैं

---

1. 30 जून, टाइम्स आफ इण्डिया

और इस समन्वित रूप में ये लोकतांत्रिक जवाबदेही की कीमत पर भारतीय अभिजन के हित व पक्ष में व्यवस्था तथा स्थायित्व और रूढ़िवादी यथा-स्थिति को कायम रखने की व्यग्र कोशिश प्रस्तुत करते हैं ।

बिदवाई का यह भी मानना है कि समाज के निम्न तबकों का जो स्वस्थ तथा लोकतांत्रिक दिशा देने वाला राजनीतिकरण हो रहा था, आपात-काल ने उसको निर्ममता से कुचल दिया । चूंकि स्थायित्व और उत्तरदायित्व के बीच का तनाव अभी भी अनसुलझा है, इसलिए यह खतरा लगातार वर्तमान है कि अधिकारवादी प्रवृत्तियां जिनका परिणाम आपातकाल था, फिर से जीवित हो उठें, संभव है एक नये आवरण में ।

आपातकाल क्या प्रेस सेन्सरशिप के बिना संभव नहीं था ? इसका उत्तर सिर्फ न हो सकता है । बजरिए जवाहरलाल नेहरू, 'मेरे दिमाग में प्रेस की स्वतंत्रता सिर्फ एक नारा नहीं है, वरन् एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य से देखें तो यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया का आवश्यक घटक है ।' प्रेस की सेन्सरशिप कितनी अनिवार्य हो उठी थी, इसका अंदाज इस बात से लग सकता है कि भीमसेन सच्चर तथा सात अन्य लोगों का प्रेस की स्वतंत्रता के समर्थन में एक पत्र में यह तथा अन्य उद्धरण इंदिरा गांधी को लिखकर देने पर हिरासत में ले लिया गया था ।[1] पर इसके साथ ही इससे यह भी जाहिर होता है कि लोग इंदिरा गांधी से यह उम्मीद करते थे कि उन्हें यह सब याद दिलाने पर कुछ फर्क पड़ेगा । प्रेस ने भारतीय[2] जीवन और चिंतन में जो गंभीर तथा बहुविध परिवर्तन किए, उनमें

---

1. शाह कमीशन की रिपोर्ट 'इमर्जेंसी एक्सिस' पर, भाग 1, पृष्ठ 83, अनुच्छेद 7.232
2. 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' में एम. एन. श्रीनिवास

एक स्पष्ट परिणाम यह था कि स्कूलों के साथ-साथ पुस्तकों और पत्रिकाओं ने आधुनिक एवं पारंपरिक ज्ञान को बहुसंख्यक भारतीयों तक पहुंचा दिया और ज्ञान अब कुछ एक पुश्तैनी समूहों का विशेषाधिकार नहीं रहा । समाचार पत्रों से देश के दूर से दूर भाग में लोगों को यह अनुभव होने लगा कि वे सामान्य सूत्रों में बंधे हैं और बाह्य जगत में होने वाली घटनाएं उनके जीवन पर भला या बुरा प्रभाव अवश्य डालती हैं ।

हम एक सामान्य निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि किसी देश का संविधान और उसका बदलता स्वरूप उस राष्ट्र की सामूहिक आकांक्षाओं और संकल्पों को व्यक्त करता है । उसी तरह प्रेस के संदर्भ में कहा जा सकता है कि प्रेस के नियम (ला एण्ड रेगुलेशन) राजनीतिक क्षेत्र में बदलाव और प्रवृत्तियों का एक बहुत संवेदनशील बैरोमीटर के रूप में कार्य करते हैं ।

'प्रेस की स्वतंत्रता' अथवा 'राज्य की सेन्सरशिप से स्वतंत्रता' के आधुनिक आदर्श का उदय आखिर लोकतंत्र, संविधान और अभिव्यक्ति के अधिकार से ही आया है । इसलिए लोकतांत्रिक आदर्श और लोकतांत्रिक संस्थाओं का प्रेस से क्या और किस तरह का सम्बन्ध है, यह जानना बहुत महत्वपूर्ण है । मेरे शोध का केन्द्र भी अभिव्यक्ति के मायने तथा उन सांस्कृतिक मूल्यों को तलाशना है, उन भौतिक तथा विधीय संरचना पर उंगली रखना है जिनमें आपातकाल जैसी बड़ी घटनाएं आरंभिक व दारुणिक विरोध के बाद स्वीकार कर ली जाती हैं तथा सामान्य जनता में उसकी स्मृति सिर्फ 'नसबंदी' के कार्यक्रम के कारण ही दर्ज रह पाती है ।

यहां यह भी महत्वपूर्ण है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सिर्फ प्रेस ही शामिल नहीं होता है । लोकतांत्रिक संस्थाएं - व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और प्रेस, इन चारों में प्रेस तथा कुछ हद तक न्यायपालिका ने ही (देखें टाइम्स आफ इण्डिया 26 जून 1995, नानी पालकीवाला का लेख तथा स्टेट्समैन न्यूजपेपर सेसम्बंधित मुकदमे में दिल्ली हाई कोर्ट का निर्णय) क्यों

विरोध किया ? क्या इसलिए कि अभिव्यक्ति अनिवार्यता मानवीय होती है, स्वतंत्रता उसका स्वभाव होता है ? क्या इसलिए कि एक प्रेस ही था जो सीधे सरकार के नियंत्रण में नहीं था ? वजह जो भी हो, लेकिन सच यही है कि प्रेस ने भी आरंभिक प्रतीकात्मक विरोध के बाद घुटने टेक दिए । क्योंकि आपातकाल के पहले भारतीय प्रेस इंदिरा गांधी की वजह से नहीं वरन् अपने संपादकों, संवाददाताओं और मालिकों की वजह से सिमटा-सिकुड़ा हुआ था[1], बंधा हुआ था । भारत की केंद्रीय समस्याओं - गरीबी, भूख, जनसंख्या वृद्धि, जमीन मालिकों का शोषण, जातिगत टकराव, भारतीय प्रेस द्वारा सामान्यतया उपेक्षित किये जाते रहे । प्रेस सरकारी सूचना तंत्र पर निर्भर रहा, सरकार तथा राष्ट्र की प्रशंसा में गुण गाता रहा । इस तरह वह अभिव्यक्ति के अधिकार का साधन न बन कर अधिकार की अभिव्यक्ति का साधन बन गया। जनता की अनुभूति और समस्याओं को महसूस करने और व्यक्त करने की बजाय यह सत्ताधीशों-मठाधीशों की आवाज तथा उनके अधिकार दंभ-घोषणाओं को जगह देता रहा । आपातकाल इस मायने में प्रेस की आंखें खोलने वाला रहा।

मोहनदास करमचंद गांधी के हवाले से हम कह सकते हैं कि शासन सबसे अच्छा वही होता है जो कम से कम शासन करे । जाहिर है समाज सबसे अच्छा वह होता है, जिसमें कम से कम मर्यादाएं हों । पर भारत में राज्य और समाज

---

1. देखें - `इंडियन पालिटिक्स एण्ड रोल आफ द प्रेस`, शरद करखनीस, 1981, विकास पब्लिशिंग हाउस । प्रेस और राजनीति के सम्बंधों (परिवर्तन और विकासों) का विस्तृत, रोचक और दृष्टिसम्पन्न विश्लेषण इस पुस्तक में किया गया । विशेषकर आठवां खण्ड `द लिबरेटिड प्रेस एण्ड इनकंपीटेंट रूलर्स : द देसाई-सिंग पीरियड, 1977-79` तथा `कनक्लूजन`, खण्ड ।

दोनों नियमों और मर्यादाओं का सबसे ज्यादा भार ढो रहे हैं । समाज के मर्यादाओं से दबे-त्रस्त होने का प्रमाण और परिणाम यहां का बंद-गुलाम और जड़ समाज है, जिसको रघुवीर सहाय ने प्राय: अपनी कविताका विषय बनाया है - 'खण्ड लोग चाहते हैं / या फिर मण्डन / या फिर अनुवाद लसलसाता भक्ति से / स्वाधीन इस देश में चौंकते हैं लोग / एक स्वाधीन व्यक्ति से ।' और हमारा भारी भरकम संविधान राज्य की नियमप्रियता का प्रमाण है । जिसका बोझ आपातकाल स्थायी रूप से बढ़ा गया । 38 वें संशोधन से ले कर 42 वां संशोधन संविधान में इसी समय हुआ । पचास से अधिक अनुच्छेदों से छेड़छाड़ की गई तथा 35 पृष्ठ संविधान में[1] और बढ़ा दिए गए । अगर पार्लियामेंट एक्ट 1975 और 1976 की फाइलें देखी जाएं तो ज्ञात होता है कि इन वर्षों में संसद ने जितने नियम बनाये उतने और किसी वर्ष में नहीं । सबसे ध्यान देने वाली बात यह है कि सारे नियम बिना किसी बहस के पारित किए गये ।

उल्लेखनीय है कि इस भारी भरकम संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता का उल्लेख भी कहीं नहीं है । जो भी स्वतंत्रता प्रेस को दी गई है, वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधीन आती है और मौलिक अधिकारों का निलम्बन हमारे संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के मात्र एक अध्यादेश से ही संभव है । संसद से तो बाद में पारित करना होता है । अभिव्यक्ति के अधिकार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति यही है । इसीलिए गोविंद मुखोती और पी. पद्मनाभन ने भारत के संविधान को 'अलोकतांत्रिक हृदय' वाला बताया है ।[2] 'फासिस्ट' प्रकृति का बताया है ।

---

1. देखें पार्लियामेंट एक्ट 1975 और 1976
2. 'ह्यूमन राइट्स व्यालेशन इन इण्डिया', पृ0 79, ए. आर. देसाई (सम्पादक)

अमेरिका से अगर हम तुलना करें तो हम पाते हैं कि न केवल `बिल आफ राइट्स` में पत्रों की स्वतंत्रता की गारंटी दी गई है वरन् अमेरिकी संविधान के पहले संशोधन के अनुसार वहां की कांग्रेस ऐसा कोई कानून नहीं बना सकती, जिससे व्यक्ति के बोलने की स्वतंत्रता अथवा समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता सीमित हो ।[1]

लेकिन यह भी सच है कि ब्रिटिश संविधान में इस तरह की स्वतंत्रता का कोई उल्लेख नहीं है[2], लेकिन वहां इन स्वतंत्रताओं के अपहरण की कल्पना नहीं की जा सकती । क्योंकि `स्वतंत्रता पुरुषों-नारियों के दिल में रहती है । जब यहां यह मर जाती है तो कोई संविधान, कोई नियम, कोई न्यायालय इसे नहीं बचा सकता । और जब यहां यह वास करती है तो कोई संविधान, कोई नियम, कोई न्यायालय इसे बचाने के लिए आवश्यक नहीं होता है ।[3]

आज के समय बाजार और बाजार की प्रतिस्पर्धा तथा मालिकाना हक सबसे बड़े प्रतिबंध बन गए हैं । `इलीट कंट्रोल एण्ड चैलेंज इन चेंजिंग इण्डिया` में कुसुम सिंह ने लिखा है, `सबसे बड़ी धमकी प्रेस की स्वतंत्रता के लिए वे प्रतिबंध नहीं थे, जो सरकार की ओर से आये । वरन् मालिकाना तरीकों के कड़े होने, जिसकी वजह से नियंत्रण कड़े हुए और पत्रकारों के लिए स्वतंत्रता कम हुई । 1954 में पहले प्रेस कमीशन ने पक्षपात का सबसे स्पष्ट उदाहरण दर्ज किया था कि

---

1. `हिंदी पत्रकारिता : विविध आयाम`, पृ0 12, वेद प्रताप वैदिक (संपादक)
2. केशवानंद भारती केस के निर्णय को ए. डी. एम. जबलपुर बनाम शुक्ला केस में सुप्रीम कोर्ट ने उलट दिया । इसके लिए गठित बेंच में जस्टिस एच. आर. खन्ना ने असहमति इसी आधार पर व्यक्त की थी ।
3. गोविंद मुखोती, `ह्यूमन राइट्स वायलेशन इन इण्डिया`, पृ0 79 ए. आर. देसाई (संपादक)

प्राय: सभी समाचार पत्र मालिकों और प्रकाशकों का निजी संपत्ति की संस्थाओं में गहरा विश्वास था । इसलिए उन्होंने पक्ष में मिलने वाले समाचारों और विचारों को प्रकाशित किया, जबकि यथास्थिति या विपक्ष की बातों, विचारों-समाचारों का विरोध किया । और आज समाचार-पत्र चलाने के लिए जिन संसाधनों की व जिस बड़ी मात्रा में निवेश की आवश्यकता होती है, वह सिर्फ पूंजीपति ही कर सकते हैं । इसलिए हमें अगर उत्पादन के केंद्रीयकरण का विरोध करना है तो हमें समाचारों के केंद्रीकरण का भी विरोध करना होगा । हमारे देश में आज 20 से अधिक तथाकथित राष्ट्रीय समाचार-पत्र हैं, लेकिन सिर्फ दो या तीन - हिंदु, पंजाब केसरी ही सिर्फ दिल्ली के बाहर से प्रकाशित होते हैं । यही परिस्थिति पत्रिकाओं के भी साथ है ।

सरकारी संचार साधनों के आपातकाल के समय मुख्यत: दो ही कार्य थे । सरकार को संरक्षण देना और कांग्रेस (इ) की तथा उसके कुछ नेताओं की इमेज बनाना । आपातकाल का समय इन संचार साधनों ने `उपलब्धि`, `ह्यर आफ फुलफिलमेंट` तथा `डिकेड आफ एचीवमेंट` के रूप में प्रचारित-चित्रित किए । फिल्म डिवीजन ने एक फिल्म बनाई[1] -`ए डे विद् द प्राइम मिनिस्टर` । `आल इण्डिया रेडियो`को निर्देश था कि श्रीमती गांधी के भाषणों से 200 उद्धरण चुनें , तथा उनमें से पांच-दस उद्धरण लेकर रोज प्रसारित किए जायें । कांग्रेस पार्टी की पत्रिकाओं को भारी मात्रा में, महंगे विज्ञापन दिए गए । 1974-75 में जो विज्ञापन हजार रुपये के मिलते थे, 1976-77 में लाखों में पहुंच गए । जबकि इस अवधि में उसकी पत्रिकाओं`सोशलिस्ट इण्डिया`, `सोशलिस्ट भारत`, `सब साथ` का प्रसार घटा ही था, बढ़ा नहीं । किसी की भी प्रसार संख्या आपात काल के पहले या बाद में पांच अंकों में नहीं रही ।

---

1. अंतरिम रिपोर्ट - 1, शाह कमीशन ; 6.90 अनुच्छेद, पृष्ठ 44-45

आपातकाल बिना किसी पूर्व योजना और कोई विशेष औपचारिक सलाहमशविरा के बिना लागू किया गया था, एक तरह से यह इंदिरा गांधी का व्यक्तिगत निर्णय था ; फिर भी भारतीय प्रेस और इंटेलीजेंसिया इस का कोई विरोध नहीं कर सका ?

वस्तुत: हमारे समाज में बुद्धिजीवी और नेता दोनों अलग-अलग क्षेत्रों से ताकत ग्रहण करते हैं । नेता जनता से ताकत प्राप्त करता है । बुद्धिजीवी अंग्रेजी ज्ञान, अंग्रेजी संस्थाओं की डिग्रियां, अंग्रेजी बुद्धिजीवियों और अंग्रेजी पत्रिकाओं से मिली प्रामाणिकता, अंग्रेजी सह विदेशी प्रेस सेपुस्तकें - इन सब कारकों से ताकत ग्रहण करता है । जाहिर है कि उसका भाषा में कोई अपना एक सामाजिक आधार नहीं बन पाता है । लेकिन इस प्रक्रिया में सामान्य भारतीय भाषा भाषी जनता में सोचहीनता और अभिव्यक्तिहीनता पनपती है । लेकिन नेता[1] जिसके पास सामाजिक आधार है, तथा सत्ता है, जो कि जनता ने उन्हें दी है, से बुद्धिजीवियों को कभी भी निहायत ही विवश, अकेला और असहाय कर सकते हैं - समर्पण केलिए मजबूर कर सकते हैं । आपातकाल इसका प्रमाण है । इस तरह नेता अपने आप को निर्बाध-अबाध पाता है, जो कि अनेकानेक अन्य कारकों के साथ मिलकर उसे जातिवादी, भ्रष्टाचारी आदि तरीके अपनाने के लिए उकसाता है । इसी संदर्भ में हम समझ सकते हैं कि इंदिरा गांधी 1977 में हारीं तो इसलिए कि जनता के साथ ज्यादती की गई थी, न कि लोकतंत्र के स्थगन से और अभिव्यक्ति व असहमति के दमन की वजह से । चूंकि नसबंदी और अतिक्रमण हटाने जैसी ज्यादतियां उत्तर भारत में हुई थीं, इसलिए यहां से हार

---

1. यह बात ध्यान देने की है, जब भी नेता वोट मांगने जाते हैं तो हिंदी में मांगते हैं, लेकिन जब विमर्श करना चाहते हैं, कोई प्रामाणिकता चाहते हैं तो अंग्रेजी पत्रों और पत्रिकाओं में लिखते हैं ।

गईं[1], लेकिन दक्षिण भारत में उन्हें अच्छी सफलता मिली ।

लोकतंत्र किसी व्यक्ति विशेष का `वाद` या `विचार` नहीं है, वरन् लम्बे विरोध-विद्रोहों के विकास का परिणाम है ।[2] परंतु भारत में लोकतंत्र ऐसे किसी विद्रोह की अनिवार्य परिणति नहीं है, वरन् संविधान निर्माताओं द्वारा अपनायी गयी एक व्यवस्था है, जिसका भारत के लोगों की जीवन पद्धति से कोई मेल नहीं हो पाया है और इसकी जड़ें भारत में मजबूत नहीं हो पायी हैं । यही वजह है कि भारत में मुद्दे जनता की जरूरतों-समस्याओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, नीचे से उभर कर नहीं आते हैं, वरन् ऊपर से तय किये जाते हैं । वे जनता की नहीं वरन् शासक-नेताओं की जरूरतों व सुविधाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं । इसीलिए किसी समय देश में गरीबी, जनसंख्या या राम-मंदिर या मण्डल आयोग सबसे बड़ी समस्या बन जाता है और किसी अन्य के लिए किसी समय एकता, अखण्डता, स्थिरता, अनुशासन, उत्पादकता, युवा शक्ति आदि महत्वपूर्ण हो जाते हैं । लोकतंत्र की मूल शर्त उत्तरदायित्वता कभी केन्द्र में नहीं आ पाती है और उत्तरदायित्वता आने के लिए यह आवश्यक है कि जनसाधारण एक वोट से ऊपर उठकर अपनी राय, सहमति, असहमति की अर्थात् अभिव्यक्ति की कीमत समझे ।

हिंदी भाषा के संदर्भ में कहें तो यह बात और भी साफ समझ में आती है । हमारे समाज में आज हिंदी सुनने की भाषा बनकर रह गई है, बोलने की नहीं । अभिग्रहण की भाषा बनकर रह गई है, अभिव्यक्ति की नहीं । इसके प्रमाण के लिए हम कह सकते हैं कि वोट भारतीय भाषाओं में मांगने से ही मिलते हैं और सम्मान व अधिकार अंग्रेजी में बोलने से । किसी भी हिंदी

---

1. 1977 के चुनावों में कांग्रेस को 153 सीटें मिली थीं । 270 सीटें जनता पार्टी को ।
2. `लोकतंत्र` खण्ड, इंसाइक्लोपीडिया इंटरनेशनल आफ सोशल साइन्स

भाषा के समाचार पत्र में हम किसी ऐसे संपादक, उपसंपादक, रिपोर्टर की कल्पना नहीं कर सकते हैं, जिसका अंग्रेजी भाषा पर अधिकार न हो । पर अंग्रेजी के संपादक के लिए हिंदी जानना बिलकुल आवश्यक नहीं है । जाहिर है हिंदी भाषा मूक दर्शकों की भाषा बनकर रह गई है । अभिव्यक्ति (लिखना और बोलना) अपने को व्यक्त करने और विरोध करने का एक लोकतांत्रिक माध्यम है । अभिग्रहण अभिव्यक्ति के लिए जरूरी है और अभिग्रहण के लिए अभिव्यक्ति । क्योंकि अगर अभिव्यक्ति न हो तो एक सीमा के बाद अभिग्रहण भी बंद हो सकता है । तब सिर्फ सत्ता की सुनवाई होती है । अधिकार की अभिव्यक्ति होती है, `अभिव्यक्ति का अधिकार` नहीं । अर्थात् सुनवाई भाषा की नहीं, अभिव्यक्ति की नहीं, मानव की नहीं - सिर्फ जड़ बल की - पैसे की, अधिकार की, सत्ता (पद, उम्र) की सुनवाई होती है । मानवीय ताकतों की नहीं, अमानवीय ताकतों की सुनवाई होती है । अभिग्रहण, अभिव्यक्ति, शब्द, भाषा, सब कुछ बेमानी हो जाता है । रघुवीर सहाय के शब्दों में --

ये किताबें, वे उम्मीदें न होंगी
कविता नहीं होगी, साहस नहीं होगा
एक और ही युग होगा
जहां सिर्फ ताकत ही ताकत होगी
और चीख न होगी ।

हमने `डेमोक्रेसी` (`डेमोस + क्रेटस /DEMOS+ KRATOS ) शब्द का जो अनुवाद किया है `लोकतंत्र` उसमें भी यह बात साफ झलकती है । `डेमोक्रेसी` का शाब्दिक अर्थ होता है जहां लोगों का शासन हो, जनता की संप्रभुता हो । जबकि `लोकतंत्र` शब्द से इस तरह का कोई अर्थ नहीं निकलता । बल्कि `तंत्र` अर्थात् व्यवस्था (ला एण्ड आर्डर) के प्रति हमारा अतिरिक्त अनुराग अवश्य प्रकट होता है ।

लोकतंत्र जिस प्रक्रिया का नाम है, जिस जीवन पद्धति की उसमें अपेक्षा होती है, उसमें मीडिया, प्रेस की भूमिका अहम् होती है । प्रेस की भूमिका का रेखांकन करते हुए अमरीकी राष्ट्रपति जैफरसन ने कहा था कि 'अगर मुझे बिना प्रेस के सरकार या सरकार के बिना प्रेस में से कोई एक चुनना हो तो मैं निश्चित रूप से बाद का विकल्प चुनूंगा ।' लेकिन विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र भारत में प्रेस की क्या भूमिका रही है, राजनीति तथा लोकतंत्र की अन्य संस्थाओं से इस के क्या रिश्ते हैं, इसके ऊपर बहुत कम अध्ययन हुआ है । विशेषकर हिंदी प्रेस से ।

जेम्स आगस्टस हिकी ने गवर्नर हेस्टिंग्स का गुस्सा मोल लेते हुए भी 29 जनवरी, 1780 को बंगाल गजेटी अर्थात् भारत के प्रथम समाचार-पत्र का आरंभ किया था । हिकी ने इसका महत्व इन शब्दों में[1] रेखांकित किया था, 'मेरी कोई बाध्यता नहीं थी : कठिन परिश्रम के दासतापूर्ण जीवन की कोई शिक्षा या अभ्यास भी मुझे नहीं है । तब भी मैं अपने शरीर को इस तरह जुता कर अपने दिमाग और आत्मा के लिए स्वतंत्रता खरीदने के क्रम में आनंद पाता हूं ।' ध्यान देने योग्य यह भी है कि हिकी अपने कार्य को इस तरह का व्याख्यायित करता था 'साप्ताहिक वाणिज्यक एवं राजनीतिक पत्र । सभी पार्टियों के लिए खुला पर प्रभावित किसी से नहीं ।'

आज मीडिया-प्रेस एक फोरम अथवा संवाद का एक मंच बन गया है । यह नीचे वालों तक ऊपर वालों की और ऊपर वालों तक नीचे वालों की खबर लाता है । गली स्तर की गतिविधियां, जो कि हमारी राजनीति का अनिवार्य अंग हैं, वह सिर्फ इसी में व्यक्त होती हैं, कितना ही असंतोषजनक रूप में सही ।

---

1. 'इण्डियन पालटिक्स एण्ड रोल आफ द प्रेस' , शरद शरद कखनीस, पृ0 18, विकास पब्लिशंग हाउस, 1981

विधान सभाओं में यह सब चीजें कभी कभार ही स्थान पाती हैं ।

प्रसिद्ध संचार विश्लेषक हैरोल्ड लासवेल[1] ने मीडिया का महत्व बताते हुए कहा है कि लोकप्रिय सरकार उन लोगों की नैतिकता और विवेक पर टिकी होती है जो महत्वपूर्ण निर्णय लेने में भागीदार होते हैं । ... अगर निर्णयों और रायों का अपेक्षाकृत विवेक सम्मत होना है तो उनका पूर्ण जानकारी पर आधारित होना चाहिए । जहां तक आम जनता का सवाल है, आवश्यक तथ्यों और विभिन्न व्याख्याओं को प्रदान करने की जिम्मेदारी जनसंचार माध्यमों- प्रधानता प्रेस की होती है । ठोस और उचित निर्णय हमेशा समाज के बौद्धिक वर्ग के सही काम करने पर ही सामने आते हैं । विवेकपूर्ण जन राय तभी सामने आती है जब जनसंचार माध्यम आम आदमी के लिए यह बौद्धिक कार्य उनकी जरूरतों को ध्यान में रखते हुए करती है ।

इन सब के अलावा 'संचार (कम्युनिकेशन) की प्रक्रिया मानव के लिए जितनी आधारभूत है, उतनी ही अनिवार्य भी (बोथ फंडामेंटेल एण्ड वाइटल)[2] । आधारभूत इस अर्थ में कि सभी मानवीय समाज चाहे वे आदिम हों या आधुनिक, मानव की अपनी बात, अनुभव, इच्छा, ज्ञान के आदान प्रदान करने की आवश्यकता केलिए ही बने हैं । और अनिवार्य इस अर्थ में है कि दूसरों के साथ संवाद करने की क्षमता व्यक्ति की जिंदा रहने की संभावनाओं को बढ़ाती है, जबकि इसकी अनुपस्थिति एक गंभीर पैथोलाजीकल समस्या के रूप में देखी जाती है । कह सकते हैं कि आक्सीजन हैमो सेपियन्स के लिए तथा अभिव्यक्ति मानव के लिए आवश्यक होती है ।

पर यह संवाद-संचार की प्रक्रिया स्वतंत्र रूप से होना चाहिए । कोई नियंत्रण इस पर नहीं होना चाहिए ।

---

1. 'लैंग्वेज आफ पालटिक्स', हैरोल्ड लासवेल, पृ० 113
2. इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंस, 'कम्युनीकेशन' खण्ड ।

प्रेस की स्वतंत्रता के लिए सबसे पहले और लम्बी लड़ाई ब्रिटेन में हुई ।[1] राइट आफ मैन, राइट आफ बिवा में कहा गया है कि प्रेस की स्वतंत्रता सरकार के बरख़ा व्यक्ति की राजनीतिक काट (ट्रम्प) है । अभिव्यक्ति भगवान के द्वारा मानव को प्रदान की गई है, जिसे कोई भी पार्थिव शक्ति प्रतिबंधित नहीं कर सकती । और नागरिक विवादों, जो कि स्याही से कागज पर लड़े जाते हैं, का नतीजा कभी खूनी लड़ाई नहीं हो सकता । बेन्थम ने तर्क दिया है कि प्रेस शासितों में खुशी का विस्तार करता है, कमी नहीं । अप्रसन्नता कभी प्रेस की संतान नहीं हो सकती । ब्रिटेन के बाद प्रेस की स्वतंत्रता के लिए यह लड़ाई अमेरिका पहुंची, जहां से शेष महाद्वीप में तथा अन्य महाद्वीपों में ।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और स्वतंत्रता का सबसे हल्लोंकिक और प्रभावी समर्थन हमें जान स्टुअर्ट मिल के `आन लिबर्टी ` निबन्ध में मिलता है । जहां मिल स्वतंत्र मत रखने तथा उसे व्यक्त करने की स्वतंत्रता को आदमी के दिमागी रूप से स्वस्थ (जिस पर अन्य सारी स्वस्थताएं निर्भर करती हैं) रहने के लिए आवश्यक मानते हैं। मिल के अनुसार सत्य के विभिन्न पक्ष होते हैं, जो कि विभिन्न कोणों (अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों) से देखने से पता चलता है । मिल का तो यहां तक कहना है कि कोई बात भले ही पूर्ण सत्य हो, लेकिन उसे चुनौती मिलना आवश्यक है, जिससे वह `मृत डाग्मा` न बने और मानव जाति के विकास की प्रक्रिया जारी रहे । व खुद उस सत्य के जिंदा रहने के लिए आवश्यक है कि उसे बराबर चुनौती मिलती रहे ।

यह बात गौरतलब है कि सिर्फ अंग्रेजों को ही अपने देश में प्रेस की स्वतंत्रता पर नाज नहीं है, जैसा कि विलियम पिट्ट ने गर्व से लिखा है, `इंग्लैण्ड ने यूरोप को पढ़ाया है कि प्रेस की स्वतंत्रता तथा अन्य राजनीतिक-नागरिक स्वतंत्रताएं ही उसकी महानता की आधारशिला हैं, और जब तक इंग्लैण्ड इनको

---

1. `द मीडिया एण्ड डेमोक्रेसी`, प्रथम अध्याय, जान कीन, पालिटी पब्लिकेशन ।

बनाए रखेगा वह विश्व को अपने कारनामों से चमत्कृत रखेगा ।' वरन जर्मन चिंतक हीगल ने भी लिखा है, 'प्रेस की स्वतंत्रता उन सिद्धांतों में है जो अंग्रेजों को शक्ति देता है ।' उल्लेखनीय है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को, प्रेस की स्वतंत्रता को सिर्फ राज्य या सरकार ही नहीं बाधित करती है । हमारे समाज में सबसे बड़ा सेंसर मर्यादाएं हैं, जिन पर एक शोध ग्रंथ लिखा जा सकता है । यह सेंसरशिप सबसे खतरनाक होती है, जब खुद व्यक्ति और समाज तमाम बातों के नाम पर - मर्यादा, मतलब, छोटा-बड़ा, परंपरा, पद आदि विभिन्न सत्ताओं के नाम पर अपने को सेंसर करने लगता है । इसके बाद राजनीतिक सत्ता को अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए ज्यादा प्रयास नहीं करना पड़ता है ।

आपातकाल में तो 'फ्रीडम' ,'लिबर्टी' शब्द ही या इस तरह कोई ध्वनि लोकतंत्र के समर्थन से मिलती जुलती, सेन्सर का कारण बन गई थी ।[1] जैसा कि 'साधना' के संपादक श्री एस. एम. जोशी तथा 'ओपोनियन' के संपादक श्री गोड़बाला, श्री निखिल चक्रवर्ती (संपादक मेन्स्ट्रीम) तथा श्री चो स्वामी ने कमीशन को बताया कि सेंसर किसी विशेष उद्देश्य से कार्य नहीं कर रहा था, वरन् वह सिर्फ यह देखने के लिए था कि लोग चुप हैं ।

हिंदी पत्रकारिता के साथ या कहें कि भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता के साथ अपनी विडम्बना यह है कि उनका समर्थन और विरोध दोनों दर्ज नहीं होता है । उस पर ध्यान नहीं दिया गया है । शाह कमीशन (प्रथम भाग, पृ0 39) में जिन समाचार पत्रों के नाम दिए गये हैं, उन्हीं से अगर हम प्रमाण लें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि कुल 13 अंग्रेजी के समाचार पत्रों तथा 27 भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों में 6 अंग्रेजी के तथा 7 भारतीय भाषाओं के पत्र सरकार के समर्थन में थे । तथा 27 सरकार का विरोध (जो कि सरकार के प्रति

---

1. शाह कमीशन रिपोर्ट : इमेंजेंसी एक्सिस, पृ0 38, अनुच्छेद 6.33

सकारात्मक व सहयोगी नहीं थे) करने वाले समाचार पत्रों में 8 अंग्रेजी के तथा 19 भारतीय भाषाओं के पत्र थे । लेकिन हम जानते हैं कि आपातकाल के संदर्भ में इस रिपोर्ट सहित, जहां तहां उल्लेख सिर्फ अंग्रेजी समाचार पत्रों का ही मिलता है । अंग्रेजी पत्रकारों का मिलता है । हिंदी पत्रकारों में किसने विरोध किया, किसने समर्थन किया, खुद हिंदी समाचार पत्रों में भी न तो इसके बारे में, और न आपातकाल के बारे में कोई चर्चा मिलती है और न इसके बारे में कोई सूचना ।

शाह कमीशन के समक्ष सुनवाई के दौरान जो लोग मीडिया से जुड़े विभिन्न प्रकरणों में प्रस्तुत हुए थे, उनमें 95 प्रतिशत अंग्रेजी मीडिया से ही जुड़े नाम हैं ।[1]

इंदिरा गांधी आपातकाल में सिर्फ एक संयोग की तरह थीं, समय की आवश्यकता थीं या फिर खुद आपातकाल की जनक थीं ? वजह जो भी हो, लेकिन इतना तय है कि जिस हड़बड़ी और व्यक्तिगत निर्णय से आपातकाल लगाया गया, उससे यह जाहिर होता है कि न तो आपातकाल पूर्व तैयारी से लाया गया था और न सर्व सम्मति से । लेकिन फिर आपातकाल का जो शांतिपूर्वक अनुपालन किया गया, प्राय: बिना किसी विरोध के जो सारा कार्य सम्पन्न हुआ, उससे क्या यहां समाज की मनोवैज्ञानिक सहभागिता प्रकट नहीं होती ? शासक वर्ग की जरूरत तो खैर यह था ही ।

इंदिरा गांधी आपात काल को कई कारकों के परिणाम के रूप में देखती थीं । जिनमें व्यवस्था-भंग, हड़ताल, धरना, अनुशासनहीनता, आर्थिक मंदी, लोकतंत्र व देश की एकता को खतरा प्रमुख है ।[2] जिसमें उन्हें सबसे ज्यादा आपत्तिजनक

---

1. शाह कमीशन - फाइनल रिपोर्ट, भाग 3, संदर्भ खण्ड ।
2. इंदिरा गांधी : सिलेक्टेड स्पीच एण्ड राइटिंग : 1972-1977, पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री आफ इनफोरमेशन एण्ड ब्राडकेस्टिंग, 1984, विशेष रूप से जून-जुलाई 1976 में दिए गए भाषण ।

और खतरनाक, जयप्रकाश नारायण का पुलिस और सेना से आज्ञा पालन न करने का आह्वान लगा ।

इंदिरा गांधी ने अपने पक्ष में यह भी कहा कि आपातकाल `प्राथमिकताओं को सही क्रम में रखने का`[1] प्रयास है । क्योंकि भारत के संविधान के पुरोवाक में `सामाजिक एवं आर्थिक न्याय` पहले, तथा बाद में `राजनीतिक न्याय` को रखा गया है । इसके साथ ही अपने समर्थन में उन्होंने कहा कि `हमारे संविधान निर्माताओं ने निश्चित यह पहले ही देख लिया था कि एक स्थिति ऐसी आ सकती है कि `बाहरी आक्रमण` ही नहीं, आतरिक गड़बड़` (इंटर्नल डिस्टर्बेन्स) की स्थिति में आपातकाल लागू करना पड़े । तभी उन्होंने संविधान में इस तरह का प्रावधान किया है ।

लेकिन बुद्धिजीवी और पत्रकार आपातकाल का जनता में अनुकरण के कारण बताते हुए उसे राष्ट्र-राज्य की आर्थिक-सामाजिक-ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक जरूरत बताते हैं । अर्थशास्त्री प्रभात पटनायक इसे भारतीय अर्थव्यवस्था के `स्ट्रक्चरल क्राइसिस` से जोड़ते हैं । अरुण शौरी भी `सेमीनार` (मार्च 1977) में लिखे एक लेख में इसे भारत की स्वतंत्रता के बाद अपनायी गयी नीतियों तथा व्यवस्था के आंतरिक संकट का परिणाम व संकेत बताते हैं । प्रफुल्ल बिदवाई ने आपातकाल को - इंदिरा गांधी की अपनी ही नीतियों तथा कांग्रेस के अपने आंतरिक संकट का परिणाम बताया है। उनकी आर्थिक नीतियों ने स्वत: स्फूर्त तथा अनियंत्रणीय परिणाम दिए । और कांग्रेस - जो कि अत्यधिक केन्द्रीकरण की शिकार थी

---

1. `जजमेंट`, कुलदीप नैयर, पृ० 92, विकास पब्लिशिंग हाउस ।
2. इंदिरा गांधी : सिलेक्टड स्पीच एण्ड राइटिंग : 1972-77, पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री आफ इनफोरमेशन एण्ड ब्राडकेस्टिंग, गवर्नमेंट आफ इण्डिया, 1984, विशेष रूप से जून जुलाई 1975 में दिए गए भाषण ।

और समाज के बेचैन वर्ग के लिए उसकी सिमटती आंतरिक जगह में कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिल रहा था - ने उस को अपने सामने भ्रष्ट, राजनीतिक रूप से समाप्त, अत्यधिक कुशासित स्मारक की तरह घृणित पाया। आपातकाल सिर्फ इस असफलता के परिणामों को दबाने का प्रयत्न ही नहीं था, वरन् बल प्रयोग से समाज को अ-राजनीतिक बना के इसके कारणों पर भी प्रहार किया गया। इस तरह कुछ अराजक तथा व्यवस्थाहीन भारत की जगह एक अराजनीतिक, हत मनोबल, हतोत्साहित भारत बनाया गया ; जहां सरकार काम करती है, लोग अनुशासित हैं, समाज दक्ष - संगठित - स्तरीय है और रेलें समय से चलती हैं ..... ।'

आशीश नंदी[1] ने इंदिरा गांधी को एक संस्था की तरह देखा है तथा प्रमुखता चार कारकों को निर्णायक बताया है —:

1. रणात्मक नव राष्ट्रवाद, जो कि भारत की 1962 में चीन से पराजय, 1965 में पाकिस्तान से पराजित जीत (मिलिट्री स्टेलमेंट), विदेशी सहायता पर निर्भरता तथा धीमे आर्थिक विकास का परिणाम था।
2. विशुद्ध राजनीति तथा आक्रामक भारतीयता की मांग।
3. भारतीय मध्यम वर्ग, जो कि राजनीतिक रूप से सबसे मुखर है, का अव्यवस्था तथा अराजकता से गहरा भय।
4. बहुलतावादी समाज की अपील कम होना।

हालांकि मोहित सेन[2] जैसे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों ने इसे 'रिवोल्यूशन'

---

1. 'एट द एज आफ साइक्लोजी', आशीश नंदी, पृ0 112, इंदिरा गांधी एण्ड द कल्चर आफ इण्डियन पालटिक्स। आक्सफोर्ड प्रेस।
2. टाइम्स आफ इण्डिया, जून-जुलाई, 1995 के समय आमंत्रित किए गए एक लेख में।

के खिलाफ `काउंटर रिवोल्यूशन` की भी संज्ञा दी है ।

पर संजय बारू आपातकाल को इंदिरा गांधी के कांग्रेस पार्टी के आंतरिक संकट व चुनौतियों से निपटने के रूप में ज्यादा देखते हैं । बाहरी चुनौतियों (आन्दोलन आदि) से निपटने के लिए उतना आवश्यक नहीं ।[1] उमा वासुदेव अपनी पुस्तक `टू फेसेस आफ इंदिरा गांधी` में भी यही चित्रित करती नजर आती हैं । लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि ये `आंतरिक संकट व चुनौतियां ` कई बाहरी कारकों का परिणाम होते हैं ।

मेरा विषय है `आपातकाल के समय हिंदी पत्रकारिता : धर्मयुग के विशेष संदर्भ में ` । इन्हीं बिंदुओं को ध्यान में रखते हुए आगामी अध्यायों में धर्मयुग तथा पत्रकारिता का विश्लेषण किया गया है । जो मेथडॉलाजी इसके लिए मैंने अपनाई है, वो मैंने आगे चर्चा की है । यहां मैंने तत्कालीन हिंदी पत्रकारिता का परिदृश्य तथा उसमें धर्मयुग को देखने की कोशिश की है ।

`टाइम्स आफ इण्डिया` के तले धर्मयुग का प्रकाशन 1950 से, बम्बई से प्रारंभ हुआ । इसके पहले संपादक इलाचंद जोशी थे । हेमचंद्र जोशी तथा सत्यकाम विद्यालंकार जैसे लेखकों का संपादकीय सानिध्य भी इसे मिला । आपातकाल के समय इसके संपादक डा० धर्मवीर भारती थे । कीमत एक रुपये दस पैसे थी । इसका कुल वितरण इस समय 2,85,093 था तथा इसको `न्यूज एण्ड करेंट अफेयर` की पत्रिका बताया गया है ।[2] उल्लेखनीय है कि इसी श्रेणी में आने वालीं तथा हिंदी की अन्य तत्कालीन पत्रिकाओं - साप्ताहिक, मासिक, पाक्षिक - से धर्मयुग का वितरण अधिक था । तथा यह साप्ताहिक पत्रिका साहित्य और संस्कृति के

---

1. टाइम्स आफ इण्डिया, 20 जून, 1995
2. `प्रेस इन इण्डिया`, 1976, इनफारमेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग मिनिस्ट्री ।

भी पर्याप्त समाचार अपने कलेवर में समेटे रहते थी । `दिनमान` का वितरण इसी रिपोर्ट, 1976 के अनुसार 51,238 था । इनमें वृद्धि इस प्रकार हुई[1] :

वर्ष	धर्मयुग	दिनमान	साप्ताहिक हिंदुस्तान
1974	223114	46697	108864
1975	186565	48607	
1980	281181	39530	
1991	77852	बंद हो गई	

1977 में महाराष्ट्र से सबसे ज्यादा समाचार पत्र निकलते थे जिसमें 132 दैनिक, तथा 476 साप्ताहिक थे । उत्तर प्रदेश (1832) दूसरे, दिल्ली (1745) तीसरे, पश्चिम बंगाल (1542) चौथे, तमिलनाडु (1021) पांचवें तथा मध्य प्रदेश (532) और बिहार (501) क्रमश: ग्यारहवें व तेरहवें नम्बर पर थे ।

और प्रसार के अनुसार देखें तो साप्ताहिक, जिनका वितरण 1974 से ह्रास का सामना कर रहा था, 1976 में 91,54,000 से 1977 में 10.9 प्रतिशत वृद्धि के साथ 1, 01, 48000 तक पहुंच गया । दैनिक पत्रों का वितरण भी 1977 की रिपोर्ट के अनुसार पहली बार एक करोड़ को पार कर गया ।

व्यक्तिगत स्वामित्व इस समय भी भारतीय समाचार जगत में पूर्णतया हावी रहा । कुल 14,531 में से 9,073 समाचार पत्र अर्थात् 62.4 प्रतिशत पर व्यक्तिगत मालिकाना हक था । समाचार पत्रों की वृद्धि 1975 से 1977 में

---

1. सारे आंकड़े `प्रेस इन इण्डिया` से लिए गए हैं ।

DISS
4(P,152)=DH'N75
152N7
TH-6750

अपेक्षाकृत तीव्रता से दर्ज की गई । आपातकाल ने समाचार की भूख को दबाने की बजाय और बढ़ा दिया । आंकड़े इस प्रकार हैं —

1965	7906
1970	11036
1975	12423
1976	13320
1977	14531

ध्यातव्य है कि यह वृद्धि हिंदी समाचार जगत में अधिक तेजी से दर्ज की गई । और वो भी प्रादेशिक समाचार पत्रों में यह विस्तार अधिक दृढ़ता से दर्ज किया गया । जबकि महानगरों में यह विस्तार अंग्रेजी के समाचार-पत्रों में हुआ ।

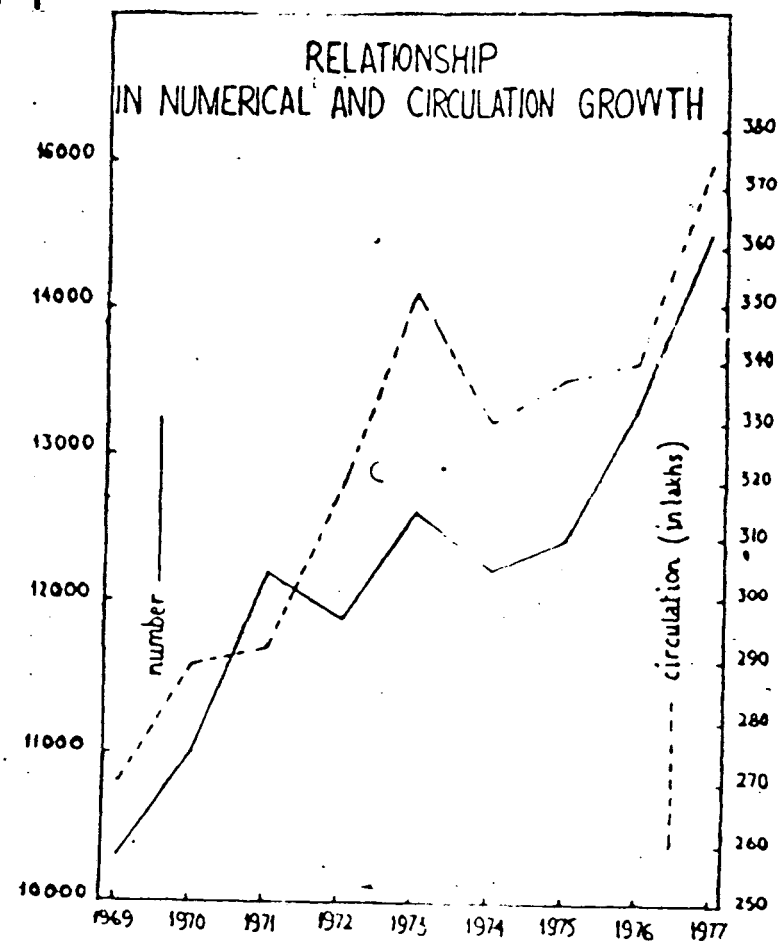

वर्ष	नई दुनिया	हिंदुस्तान टाइम्स	हिंदुस्तान	धर्मयुग	दिनमान	इल्यूस्ट्रेटिड वीकली आफ इण्डिया
1973	56463	143940	161588	221023	46056	237190
1978	105392	199012	159619	268869	55320	347345

आज हिंदी समाचार जगत में कोई पत्रिका, कोई समाचार पत्र केंद्रीय पत्र नहीं रह गया है। पर वितरण और संख्या में हिंदी समाचार पत्रों में दुगने से अधिक विस्तार हुआ है। जिस तरह राजनीतिक परिदृश्य पर कोई एक केंद्रीय पार्टी नहीं रह गई है वरन् कई सारी पार्टियां और क्षेत्रीय दल अस्तित्व में आ गये हैं। उसी तरह आज समाचार जगत में कोई एक पत्रिका या समाचार पत्र केंद्रीय न रह कर यहां भी राजनीति की तरह विकेन्द्रीकरण शुरू हो चुका है।

अगर 90 के दशक से हम तुलना करें तो हम पाते हैं कि कुल समाचार-पत्रों की संख्या 1977 में 17531 थी जो कि 1992 में 31957 हो गई। तथा भाषावार देखा जाए तो यह वृद्धि सबसे अधिक हिंदी भाषा में दर्ज की गई --

भाषा	दैनिक		साप्ताहिक		कुल	
	1977	1992	1977	1992	1977	1992
बंगला	278	74	268	497	1003	1994
मराठी	97	215	268	561	863	1510
तमिल	60	289	99	307	653	1411
हिंदी	281	1541	1705	5504	3736	11638
अंग्रेजी	87	241	329	611	2892	5139

धर्मयुग के बारे में यह जान लेना भी आवश्यक है कि धर्मयुग एक साप्ताहिक तथा रंगीन पत्रिका थी, जिसमें समाचार-विचार के अलावा कहानियां, कविताएं, कला, संस्कृति, खेल की भी पर्याप्त चर्चा रहती थी तथा बुनाई-कढ़ाई और पाक कला के तरीके भी । हम कह सकते हैं कि घर के अंदर तक इसकी पैठ थी । घर के हर सदस्य के लिए इसमें कुछ न कुछ सिर्फ पढ़ने के लिए ही नहीं, संग्रह के लिए भी होता था । लगभग 40-50 पृष्ठ इसमें होते थे और इनका आकार भी इस डिसर्टेशन के पन्नों से कुछ बड़ा ही होता था । इस समय 'धर्मयुग परिवार' में ये सभी व्यक्ति सम्मिलित थे - मनमोहन सरल (सहायक संपादक), योगेन्द्र कुमार लल्ला (मुख्य उपसंपादक), प्रेमशंकर भट्ट (आयोजन सहायक) तथा गणेश मंत्री, सतीश वर्मा, रवीन्द्र श्रीवास्तव, राममूर्ति, सुरेन्द्र प्रताप सिंह, उदयन शर्मा एवं रमा भादुड़ी, सभी(उपसंपादक)तथा रमेश मण्डन गिरि (कला निर्देशक)। और संपादक धर्मवीर भारती ।

समाज जैसे जैसे संगठित व विशेषीकृत होता जाता है, इस बात पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया जाता है कि लोग क्या कर रहे हैं, क्या सोचते हैं । लोकतंत्र में यह प्रक्रिया सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण होती है, जो कि प्रेस के द्वारा सम्पन्न होती है । प्रेस ऊपर के लोगों की खबर नीचे करता है, नीचे के लोगों की खबर ऊपर । तथा एक ऐसा मंच प्रदान करता है जहां समाज के छोटे-बड़े मुद्दे, बातें उभर कर आ सकें, और उनके बारे में अधिक समझदारीपूर्ण तथा सर्वहिताय निर्णय लिए जा सकें । 'धर्मयुग' की पत्रकारिता के अध्ययन में यह देखना मेरा एक प्रमुख कार्य होगा कि आपातकाल के समय मुद्दे ऊपर से नीचे आ रहे थे, अथवा आम जनता के मुद्दे, समस्याएं स्थान पा रहे थे । इस तरह 'इस पत्रकारिता ने जनता की याददाश्त को, मस्तिष्क को, किन मुद्दों पर सचेत करने की कोशिश की । किन सांचों में ढालने की कोशिश की । जो भी निर्णय लिए गए, वो किसके बरक्स, किसके हित में थे तथा धर्मयुग ने उसको किस तरह रखा ।[1]

---

1. 'लैंग्वेज आफ पालटिक्स', पृष्ठ चार, हेरोल्ड कास्वेल ।

लासवेल का यह भी मानना है कि अपेक्षित प्रकार्य (फंक्शन) भाषा को प्रभावित करता है और भाषा अपेक्षित प्रकार्य को ।

हैरोल्ड लासवेल की कुछ और प्रासंगिक मान्यताएं इस प्रकार हैं —

'जब सामूहिक आउटलुक आशावादी होता है, शैली (राजनीतिक लेखन व चिंतन की) विस्तृत और विविध होती है । जब आउटलुक निराशावादी होता है, शैली सूक्तिपरक और दोहरावबाली हो जाती है ।'

'(राजनीतिक) झूठ को प्राय: दोहराने की जरूरत पड़ती है तथा यह सूक्तियां में व्यक्त होता है ।' व 'इसे आलंकारिक रूपसे कहने की भी जरूरत पड़ती है ।'

'कथ्य विश्लेषण' के क्षेत्र में एक प्रमुख नाम है बरनार्ड बेरेलसन का । अपनी पुस्तक 'कंटेंट एनालिसिस इन कम्युनिकेशन रिसर्च' में आपने बहुत विधिवत और प्रामाणिक ढंग से इस प्रक्रिया के कुछ सिद्धांत - सूत्र गढ़ने की कोशिश की है । इन सूत्रों और विधियों को उपयोग मैंने जहां तहां किया है । लेकिन यह पुस्तक विशद व विस्तृत योजनाओं में होने वाले कथ्य विश्लेषण को ध्यान में रखकर लिखी गई है । जैसे युद्ध और चुनावों के प्रोपेगेंडा, पुस्तकों, कहानियों, फिल्मों और सीरियलों को ध्यान में रख कर इसे लिखा गया है। ट्रेन्ड देखना, तुलना करना और दर्शक पर प्रभाव देखने इस प्रक्रिया के अनिवार्य अंग बताये गए हैं । पर मेरा विषय अपेक्षाकृत बहुत सीमित है । इसमें समय की सीमा तो है ही, तुलना की भी बहुत जगह नहीं है । संसाधनों की कमी (जिसमें एक यह भी है मेरे विश्वविद्यालय के पुस्तकालय सहित, अन्य विश्वविद्यालयों तथा पुस्तकालयों में हिंदी के समाचार पत्र और पत्रिकाओं को संग्रहणीय नहीं माना जाता है ।) तथा मेरी सीमित समझ तो सबसे बड़ी सरहदें हैं हीं ।

कुछ बिंदु जिनका मैं आगे प्रयोग करूंगा, इस प्रकार हैं --

`समाचार पत्र, पत्रिकाओं और रेडियो में किसी भी तर्क की, कथन की सापेक्षिक आवृत्ति उसके श्रोताओं में, उसकी सापेक्षिक स्वीकृति से सीधे सम्बंधित होती है ।`[1]

`किस चीज पर - सिम्बल, कथन, चित्र आदि पर सबसे ज्यादा हमारा ध्यान या हमारी चेतना को खींचा जा रहा है तथा मस्तिष्क को किस आकार में ढालने की कोशिश की जा रही है ।` ... तथा लोग अखबार में क्या पढ़ें और क्या पढ़ते हैं, यह भी कोई स्वनिर्भर प्रक्रिया नहीं है । और न एकांत में बनती है ।

कार्टून या पेंटिंग में व्यक्ति, पशु, प्रकृति, वस्तु कौन सी चीज संकेत (सिम्बल) के रूप में, किस आवृत्ति के साथ प्रयोग की जा रही है ।

इसके अतिरिक्त मैंने अपनाई गई विधियों को देखते हुए, `धर्मयुग` की इस अवधि की पत्रकारिता के अध्ययन के लिए कुछ `बीज-शब्द` चुने हैं, जिनकी आवृत्ति से मेरे निष्कर्ष प्रभावित होंगे । ये शब्द हैं -- (1) स्वतंत्रता, (2) अनुशासन हीनता - अराजकता, (3) आर्थिक मंदी, (4) भ्रष्टाचार, (5) गरीबी, (6) साम्यवाद और समाजवाद, (7) लोकतंत्र, (8) जनसंख्या या आबादी, (9) तानाशाही, (10) जाति, (11) राष्ट्र, राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद, (12) इंदिरा गांधी, (13) प्रधान मंत्री, (14) संजय गांधी, (15) जयप्रकाश नारायण । इन सब शब्दों को किस तरह, किस विषय में, कितनी जगह, कहां और कब स्थान दिया गया है ।

कथ्य का स्रोत क्या है, इसके बिना उसका सही आशय पता लगाना संभव नहीं होता है । वो भारत के बारे में है, या विदेश के बारे में । समाज

---

1. कंटेंट एनालिसिस इन कम्यूनिकेशन रिसर्च, पृ० 105, बरनार्ड बेरेल्सन, शिकागो यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ।

के किस वर्ग से वो सम्बंधित हैं और उसका क्या चरित्र है । यह भी कथ्य विश्लेषण के महत्वपूर्णमानक हैं ।

इसके अतिरिक्त बेरलसन ने कुछ और विधि विकसित की है, जिससे विभिन्न तरीकों की संचार सामग्रियों में `क्या कहा गया है` इसका निर्धारण होता है ।

(1) सामग्री का विषय (सब्जेक्ट मेटर)
(2) दिशा (`डायरेक्शन` अथवा `ओरियेन्टेशन`)
(3) आधार (`स्टेन्डर्ड` अथवा `ग्राउंड`) - इसमें यह दिखाया जाता है कि फायदे या हानि का स्वभाव क्या है ।
(4) मूल्य (`वेल्यू` अथवा `गोल्स` अथवा `वान्ट`) - क्या चाहा अथवा मांगा जा रहा है ?
(5) प्रविधि (`मेथोड`) - अपेक्षित गोल या मूल्य प्राप्त करने के लिए किस प्रक्रिया या विधि, साधन का उपयोग किया गया है ?
(6) नायक (एक्टर) - व्यक्ति और समूह, जो किसी कार्य को करने में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं ।
(7) स्रोत (अथारिटी अथवा सोर्स) - किसके नाम से तथा किस अधिकार से बात कही गई है ।
(8) उद्गम (आरिजिन) - समाचार का उद्भव कहां से हुआ ।
(9) दर्शक (टारगेट) - कौन सम्बोधित है ।

`कैसे कही गयी है ` इसको समझने के लिए मुख्यत: तीन पैमाने हैं —

(1) रूप (फार्म)
(2) कथन की अपनी आंतरिक संरचना
(3) तीव्रता

जब हम किसी पठन या दृश्य सामग्री का विश्लेषण करते हैं, तो आपके मन में कुछ श्रेणियां या अवधारणाएं या पूर्वकल्पनाएं होती हैं, जो आपके अध्ययन, समाज में रहने-सुनने से, व्यक्ति या पत्रिका के बारे में छवि, जानकारी के आधार पर बनती हैं। जाने-अनजाने इन्हीं को मन-मस्तिष्क में धारण किए हुए हम किसी भी दृश्य या पठ्य या श्रव्य सामग्री से टकराते हैं और उसमें यह सब पूर्व अपेक्षित चीजें ही ढूंढ़ते हैं। बेरलसन पूरे विश्लेषण की इस प्रक्रिया में इन `हाइपोथीसिस` को केंद्रीय महत्व का मानते हैं। क्योंकि इन्हीं के आधार पर विश्लेषण के सारे मानदण्ड व श्रेणियां बनती हैं।

प्रस्तुत शोध में मेरी प्रमुख `हाइपोथीसिस` ये हैं --

(1) जनतंत्र की अपनी स्वभावगत प्रक्रिया के तहत तथा तत्कालीन आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप वंचित और निम्न वर्ग के लोगों ने अपने अधिकार और सम्मान के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया था, जिसका परिणाम था आंदोलन, हड़तालें आदि। आपातकाल इसे दबाने का एक सफल प्रयास था। जाहिर है आपातकाल में निम्नवर्ग, वंचितों के ऊपर कोई सकारात्मक समाचार नहीं छपा होगा। मानव अधिकार, लोकतंत्र, अभिव्यक्ति की चर्चा इसमें नहीं होगी।

(2) आपातकाल में प्रेस अधिकार की अभिव्यक्ति का साधन मात्र बन कर रह गया था तथा `अभिव्यक्ति के अधिकार` का दमन किया गया। पत्रकारिता के विषय जनता से नहीं, सरकार से या सत्ता से आए होंगे।

(3) आपातकाल समाज को अ-राजनीतिक बनाने का एक प्रयास था, जिसमें समाज की राजनीतिक गतिविधियां बंद करने, अधिकारियों को ही सारे अधिकार सौंप दिए गए थे, राजनीतिक मुद्दों की बजाए सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों को, देशी मुद्दों की बजाए विदेशी मुद्दों को, जनता-

निम्नवर्ग की समस्याओं की बजाए, मध्यम और अभिजात वर्ग की समस्याओं पर ही ध्यान केंद्रित किया गया ।

(4) उभरते मध्यम की आकांक्षाएं व उनके हित, अभिजन का दम्भ तथा श्रेष्ठता का स्वर, असुरक्षा का भय, उनके नैतिकता के मानदण्ड समाज को आकार दे रहे थे । आपातकाल की पत्रकारिता मध्यम वर्गीय सुखोपभोग तथा इन्हीं मानदण्डों से घिरी रही ।

`धर्मयुग` की इस (जून 26, 1975 से मार्च 21, 1977) अवधि में बिखरी पत्रकारिता से मैंने अपने अध्ययन के लिए यादृच्छिक रूप से कुछ समाचार-लेख-कहानी-कविताएं आदि सामग्री चुन ली है, जिनको आधार तथा प्रतिनिधि मान कर ही मैंने सम्पूर्ण अवधि की पत्रकारिता का विश्लेषण किया है ।

अध्याय - २

आपातकाल, अभिव्यक्ति, पत्रकारिता और परिदृश्य

{१} १९७५ तक हिंदी पत्रकारिता और पत्रकार : दिशा और दशा
{२} १९७०-८० के दशक का आर्थिक, सामाजिक, ऐतिहासिक परिदृश्य
{३} आपातकाल, लोकतंत्र और अभिव्यक्ति

बारिश[1]

वह अचानक शुरू हुई
बकरियां उसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं थीं
वे देर तक - चीखती-चिल्लाती रहीं
मगर पानी, पूरी ताक़त के साथ
गटर और उनके गोश्त में उतरता जा रहा था

उनके थन भींग कर भारी हो गये थे

यह सींझने की तैयारी थी
एक तेज और लम्बे जिरह की शुरुआत
जिसमें खजूर के पत्ते तक
हिस्सा ले रहे थे
जिरह के बीचोंबीच एक गधा खड़ा था
खड़ा था और भींग रहा था
पानी उसकी पीठ और गर्दन की
तलाशी ले रहा था
उसके पास छाता नहीं था
सिर्फ जबड़े थे जो पूरी ताक़त के साथ
बारिश और सारी दुनिया के खिलाफ
बंद कर लिये गये थे
यह सामना करने का
एक ठोस और कारगर तरीका था
जो मुझे अच्छा लगा ।

---

1. 'जमीन पक रही है', केदारनाथ सिंह, पृ० 69, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1980 ।

बौछारें
तेज होती जा रही थीं
पहली बार लगा
कोई किसी को पीट रहा है
जैसे अंधेरे में दरवाजे पीटे जाते हैं
जो पिट रहा था
उसे देखना मुश्किल था
सिर्फ उस की पीठ से खून गिर रहा था
सिर्फ उसके जूते सड़क पर पड़े थे
और बारिश पूरी मुस्तैदी के साथ
उनकी निगरानी कर रही थी
जूते
बारिश में भीग कर
एक अजब ढंग से खूबसूरत लग रहे थे।

गधा अब भी उसी तरह खड़ा था।

सिर्फ उस के जबड़े
कुछ और सख्त हो गये थे
कुछ और मोटे
कुछ और बेडौल

गधा इतना भीग चुका था
कि अब वह
उस पूरे दृश्य के
नायक की तरह लग रहा था।

(1) 1975 तक हिन्दी पत्रकारिता और पत्रकार : दिशा और दशा

`समाचार` कोई नया शब्द नहीं है, पर `समाचार पत्र` नया शब्द है। समाचार में व्यक्ति खुद तय करता है कि क्या समाचार है क्या नहीं, और समाचार देने वाले को भी गृहीता ही तय करता है। लेकिन `समाचार पत्र` में ग्राहक खुद तय नहीं करता है कि क्या समाचार है, क्या नहीं। समाचार देने वाला भी `ग्राहक` का चुनाव नहीं होता है। यहां व्यक्ति पूरी तरह पर निर्भर हो जाता है।`समाचार` और `समाचार दाता` दोनों उसके चुनाव नहीं होते हैं। एक तरफ समाचारों का उत्पादन शुरू हो जाता है, दूसरी तरफ समाचारों की बिक्री।

एक तरफ संगठित और विशेषीकृत समाज की आवश्यक्ता और पूंजीवाद ; दूसरी तरफ व्यक्ति की अपनी स्वतंत्र सत्ता के प्रति सचेतता के फलस्वरूप लोकतंत्र और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की स्थापना दोनों की `प्रक्रिया` का परिणाम है समाचार पत्र।

भारत में पत्रकारिता विशेषकर हिंदी पत्रकारिता को हम तीन काल-खण्डों में बांट सक्तेहैं। प्रथम,स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व। द्वितीय, 1975 तक की पत्रकारिता। तृतीय, 1975 (77) अर्थात् आपातकाल के बाद पत्रकारिता।

हिंदी समाचार-पत्रों का दृष्टिकोण राष्ट्रीय आंदोलन के समय अर्थात् स्वाधीनता से पूर्व देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत था। हिंदी की उन्नति और स्वतंत्रता दो ही उद्देश्य इस पत्रकारिता के थे। पत्रकारिता एक मिशन था, `प्रोफेशन` नहीं। उस समय की साहसिक पत्रकारिता के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

30 मई 1826 को पं० युगल किशोर शुक्ल ने, देवनागरी में हिंदी का पहला पत्र `उद्दंत मार्तण्ड` प्रारंभ किया। `बंगदूत` ठीक उसके बाद 10 मई 1829 को प्रकाशित हुआ। 1854 में कलकत्ता से एक दैनिक प्रकाशित हुआ, जिसका

नाम था - `समाचार सुधावर्षण` । 1868 तक अनेक हिंदी पत्र प्रकाशित होने लगे थे ।[1] यथा `बनारस अखबार`, `मार्तण्ड`, `ज्ञानदीप`, `मालवा अखबार`, `जगदीपक भास्कर`, `साम्यदण्ड`, `सुधाकर`, `बुद्धिप्रकाश`, `प्रजाहितैषी`, और `कविवचन सुधा` आदि । `कविवचन सुधा` का संपादन भारतेंदु हरिश्चंद्र किया करते थे । तुलना प्रेमी उन्हें भारतीय पत्रकारिता का राजा राममोहन राय कहते हैं । `सरस्वती` को वर्तमान शताब्दी की अत्यधिक महत्वपूर्ण पत्रिका माना जाता है जो 1900 में प्रारंभ हुई और उन दिनों पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित की जाती थी ।

19वीं शताब्दी के अंत और 20 वीं शताब्दी के प्रारंभ में हिंदी के अनेक दैनिक अखबार निकले जिनमें `हिंदोस्थान`, `भारतोदय`, `भारत मित्र`, `भारत जीवन`, `अभ्युदय`, `विश्वमित्र`, `आज`, `प्रताप`, `विजय`, `अर्जुन` आदि प्रमुख हैं । 20 वीं शताब्दी के चौथे-पांचवें दशकों में `हिंदुस्तान`, `आर्यावर्त`, `नवभारत टाइम्स`, `नई दुनिया`, `जागरण`, `अमर उजाला`, `पंजाब केसरी`, `नवभारत` आदि प्रमुख हैं ।

1971 में भारतवर्ष में प्रकाशित होने वाले कुल समाचार पत्रों की संख्या 11926 थी । इनमें सबसे अधिक पत्र हिंदी में छपते थे - उनकी संख्या 3093 थी । तथा इसी समय कुल 793 दैनिकों में से हिंदी के दैनिकों की संख्या 225 थी । 1995 की `प्रेस इन इण्डिया` के अनुसार कुल समाचार पत्रों की संख्या 35601 थी, तथा इनका कुल वितरण 7, 23, 02, 000 था । आवधिक (पीरियोडिकल) पत्र इस समय कुल 31,264 थे जिनमें 11973 साप्ताहिक थे । `धर्मयुग` का इस समय वितरण 38,000 था तथा वर्तमान में धर्मयुग का प्रकाशन

---

1. हिंदी पत्रकारिता के विविध आयाम, (संपा) वेद प्रताप वैदिक, पृ0 31

अधिकार `बेनेट एण्ड कोलमेन` से `चंद्रप्रभा प्रकाशन` ने ले लिया है तथा इसका वितरण बंद है ।

हिंदी में 1995 में कुल दैनिक 13650 थे जिन का वितरण 29,945,000 था जबकि अंग्रेजी में इसी समय कुल 5525 दैनिक थे जिनका वितरण 97,61,000 था

कृष्ण बिहारी मिश्र[1] के अनुसार `उदंत मार्तण्ड का प्रकाशन `हिंदुस्तानियों के हित के हेत` अर्थात् उन्हें परावलंबन से मुक्ति दिलाकर स्वतंत्र दृष्टि प्रदान करने के निमित्त हुआ था । हिंदी के इस पहले पत्र की मूल प्रतिज्ञा `हिंदुस्तानियों के हित` ही थी । इसे हिंदी-पत्रकारिता की आदि प्रतिज्ञा माननी चाहिए । यह ऐतिहासिक तथ्य भी स्मरणीय है कि `उदंत मार्तण्ड` का प्रकाशन हिंदी के नये ज्ञान-मार्तण्ड के उदय की विज्ञप्ति थी । आधुनिक हिंदी साहित्य के शलाका पुरुष भारतेंदु हरिश्चंद्र की धारणा के मुताबिक हिंदी नई चाल में ढली— सन् 1873 ई० में । मेरी विनम्र धारणा है कि हिंदी की नयी यात्रा नये आलोक के साथ शुरू हुई - 30 मई 1826 को यानी हिंदी के प्रथम पत्र `उदंत मार्तण्ड` के प्रकाशन की ऐतिहासिक तिथि को । यह सर्वथा नयी शुरुआत थी ; अपरिचित लोक की यात्रा थी जिसने नये क्षितिज का उद्घाटन किया । और यह यात्रा बंगीय धरती से शुरू हुई ।` ... `साम्राज्यशाही कोप तथा आर्थिक कठिनाई के कारण 4 सितंबर 1827 को पण्डित जुगुल किशोर शुक्ल को पेपर बंद करना पड़ा । लेकिन 1850 में उन्होंने `साम्यदंत मार्तण्ड` नाम का पत्र प्रकाशित किया । यह प्रमाण है उनकी बलवती राष्ट्रीय प्रेरणा, प्रत्यूहों से लड़ने की अदम्य शक्ति और अकुण्ठ हिंदी हित चिंता का । उस युग के पत्रकारों की यह सामान्य विशेषता थी । हिंदी गद्य के उन आरंभिक साधकों से परिनिष्ठित भाषा की अपेक्षा नहीं की जा सकती ।

---

1. `हिंदी पत्रकारिता के विविध आयाम` (संपादक) डा० वेद प्रताप वैदिक, पुस्तक का लेखक
   `हिंदी पत्रकारिता : बंगीय भूमिका` - कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 101

1857 यानी प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पूर्व कलकत्ते से हिंदी के अनेक पत्र प्रकाशित हुए जिनमें `बंगदूत`, `प्रजामित्र`, `साम्यदंत मार्तण्ड` और हिंदी के प्रथम दैनिक `समाचार-सुधावर्षण` की अभिज्ञता है । और जो प्रमाण है इस बात का कि हिंदी पत्रकारिता का जन्म ही नहीं, बल्कि नींव-निर्माण का ऐतिहासिक कार्य भी कलकत्ता ने ही सम्पन्न किया ।

कुछ और प्रमुख पत्र, जो कलकत्ता से ही प्रकाशित हुए - `मतवाला` (1923), `विशाल भारत` (1928) (संपादक - पं० बनारसीदास चतुर्वेदी), `विश्व भारती` (1942) (संपादक आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी) ।

संयुक्त प्रांत, मध्य भारत अर्थात् हिंदी क्षेत्र से निकलने वाले प्रमुख पत्र इस प्रकार हैं --

`बनारस अखबार`, जनवरी 1845 में काशी से प्रकाशित । यह हिंदी प्रदेश से प्रकाशित होने वाला प्रथम पत्र था ।

`सुधाकर`, यह भी बनारस से ही 1850 में निकला । भाषा की दृष्टि से सुधाकर को ही हिंदी प्रदेश का पहला पत्र मानना चाहिए, क्योंकि `बनारस अखबार` राजा शिवप्रसाद `सितारे हिंद` के उर्दू समर्थन के कारण, उर्दू के अधिक करीब था ।

कविवचन सुधा, काशी, 15 अगस्त 1867, भारतेंदु हरिश्चन्द्र

हिंदी प्रदीप , प्रयाग, 1877, बालकृष्ण भट्ट

सरस्वती, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1900

आज, काशी, 1920 - सितंबर, शिव प्रसाद गुप्त

माधुरी, लखनऊ, 1921

चांद, प्रयाग, 1922

हंस, काशी, 1930

सुधा, प्रयाग, 1927

स्वतंत्रता के बाद के समाचार पत्रों में हम आलोचनात्मक दृष्टि का नितांत अभाव पाते हैं।[1] स्वतंत्रता प्राप्ति में कांग्रेस और कांग्रेस के नेताओं के साथ जुड़े रहने के कारण पत्र संपादक स्वतंत्रता के बाद उनके प्रति एक निरीक्षक की भूमिका नहीं निभा सके। कांग्रेस, जवाहरलाल नेहरू आदि नेताओं के प्रति इन संपादकों में एक प्रशंसा का भाव था। पूरे नेहरू युग में हिंदी पत्रकारिता में यही भाव प्रधान रहा। इसके बाद हिंदी पत्रकारिता में कुछ आलोचनात्मक स्वर देखने को मिलता है।[2]

1967 का वर्ष इस मायने में निर्णायक वर्ष कहा जा सकता है, जबकि हिंदी राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें बनीं। और हिंदी समाचार पत्र पहली बार ऐसी सरकार के सामने थे जो कांग्रेस की नहीं थीं। 1977 के चुनावों में यह (साथ ही इन बीच के वर्षों में भी)[3] केंद्र व राज्यों दोनों में बड़े पैमाने

---

1. करखनीस, पृ0 79 - 112 और 188 - 203
2. साहित्य में यह मोह भंग 60 के दशक के प्रारंभ से ही देखने को मिलने लगता है।
3. बड़े प्रेसों पर इन वर्षों में इंदिरा गांधी के कार्यों - जैसे बैंकों का राष्ट्रीयकरण तथा पुराने राजाओं के विशेषाधिकार की समाप्ति जैसे कार्यों, तथा 1971 के चुनावों में इंदिरा गांधी का अपने निहित हित होने के कारण साथ नहीं देने का भी आरोप था। (उल्लेखनीय है कि खुद कृष्ण कुमार बिड़ला ने 1971 की लोकसभा चुनाव राजस्थान (झुंझुनूं) से लड़ा था स्वतंत्र पार्टी के मंच से, तथा कांग्रेस के खिलाफ, जिसमें वे पराजित हुए थे, तथा इस बात पर इंदिरा गांधी व बिड़ला में उस समय मनमुटाव भी पैदा हुआ। - देखें 'इंदिरा गांधी : अंतरंग संस्मरण' - के. के. बिरला, हालांकि इस 250 पृष्ठ की पुस्तक में आपातकाल को सिर्फ दो पेज दिए गए हैं।) 1971 में प्रेस पर बड़े घरानों के एकाधिकार से निपटने के लिए एक बिल भी प्रस्तावित किया गया, जिससे मालिकाना हक विकेंद्रित किया

(क्रमशः...)

पर हुआ । केंद्र में जनता सरकार थी और राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें थीं । प्रादेशिक राजनीति ने जब अपनी जड़ें जमाना प्रारंभ किया तो प्रादेशिक समाचार-पत्रों ने भी होश संभाला । इसके पहले तो तथाकथित राष्ट्रीय राजनीति थी और राष्ट्रीय समाचार पत्र थे । जैसे - जैसे प्रांतों के स्तर पर राजनीति पहुंची प्रांतीय अखबार शुरू हुए । आज जिला स्तरीय राजनीति प्रारंभ हो चुकी है, ग्राम स्तर तक भी, राजनीति की झंकारें सुनाई दे रही हैं, इसलिए जिला स्तर पर भी समाचार पत्र जड़ें जमा रहे हैं ।

(क्रमश:)... जा सके । तथाकथित एकाधिकार को समाप्त करने हेतु लाया गया यह बिल विरोध के कारण अलग रख दिया गया ।

इसके अलावा द्वितीय विश्व युद्ध के समय से ही, भारत न्यूज प्रिंट पर नियंत्रण रखता आया है । न्यूज प्रिंट की भारी मात्रा विदेश से आयातित होने के कारण, भारत सरकार विदेशी मुद्रा के दबावों को देखते हुए उनका वार्षिक वितरण करती है । 1972-73 में न्यूज प्रिंट की उपलब्धि में बड़ी हुई कठिनाइयों, उनकी कीमतों की वृद्धि के कारण सरकार ने न्यूजप्रिंट नियंत्रण का यह तरीका तय किया कि समाचार पत्रों के लिए पृष्ठ नियत कर दिए कि वे इतने पृष्ठ ही छाप सकते हैं । लेकिन इसपर सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि न्यूज प्रिंट पर नियंत्रण समाचार पत्र पर नियंत्रण के उद्देश्य से नहीं किया जाना चाहिए ।

समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर किये गए इन आघातों तथा आर्थिक मंदी, मुद्रा स्फीति, संपूर्ण देश में व्याप्त भ्रष्टाचार को देखते हुए प्रेस ने सरकार के प्रति कड़ा आलोचनात्मक रुख अपना लिया था, तथा सरकार विरोधी जयप्रकाश के आंदोलन ने इसका बड़ी मात्रा में ध्यान आकर्षित किया था । (`द थर्ड वर्ल्ड एण्ड द प्रेस फ्रीडम` (संपादक) फिलिप सी. हार्टन, में जार्ज बर्गीज का लेख `प्रेस सेन्सरशिप अंडर इंदिरा गांधी` पृ0 220)

लेकिन राजनीति ही एकमात्र कारक नहीं थी और जैसा कि राजेंद्र माथुर[1] ने लिखा है, `न यह सब हिंदी मां की सेवा के लिए हो रहा था ।` उन्होंने लिखा है, `हिंदी के प्रांतीय दैनिक 30 साल तक क्यों ऊंघते रहे ? और पिछले दस सालों में उनका अचानक इतना विकास क्यों हुआ ? क्या इसका कारण यह है कि जिन राज्यों के लोग अपनी अलग भाषाई पहचान के बारे में फिक्रमंद थे, या जहां पिछड़ी जातियों के पास लोकतंत्र की आंधी पहले पहुंची, वहां पत्रकारिता का विकास पहले हो गया ? महाराष्ट्र को अपने जन्म के लिए लड़ना पड़ा और अपने आप को भिन्न सिद्ध करना पड़ा जो कि वह था । तमिलनाडु में हिंदी विरोधी दंगे हुए और तमिलों में यह गर्व रहा कि उनकी परंपरा संस्कृत की तरह ऊंची और समानांतर है । केरल की पहचान तो तीन लोक से न्यारी है ही । गंगा के दोआब में पसरी हिंदी को न पहचान की फिक्र रही, न उत्कृष्टता की । इस संदर्भ में सोचो तो यह समझना आसान है कि जालंधर से छपनेवाला `पंजाब केसरी` किसी एक नगर से प्रकाशित होने वाला हिंदी का सर्वाधिक प्रसारित दैनिक क्यों बना रहा है ? पंजाब में वर्षों से एक गृह युद्ध-सा चल रहा है और अखबार गृह युद्ध की स्थिति में नहीं बिकेगा तो कब बिकेगा ।

राजस्थान, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश से आज ऐसे कई अखबार हैं, जो पांच, छह या सात शहरों से एक साथ छपते हैं । प्रांतीय पत्र-स्वामी अपनी एक जगह की कामयाबी को लगभग हर संभागीय नगर तक ले जा रहे हैं और कई प्रतिस्पर्धी जाल पाठकों की झोली में बिछ गए हैं, जाहिर है हिंदी मां की सेवा की खातिर यह सब नहीं हो रहा है । वह तीन कारणों से हो रहा है - (1) हिंदी राज्यों में इतना बड़ा बाजार बन चुका है और बेचने खरीदने वालों को टिकाये रखने योग्य विज्ञापन पैदा हो रहे हैं । (2) राजनीति में ऐसे

---

1. रमेश जैन, पृ० 433, `भारत में हिंदी पत्रकारिता,` 1989

प्रांतीय शासक वर्ग हर राज्य में अस्तित्व में आ गए हैं, जिन्हें अपने विविध हितों के लिए अखबारों की जरूरत है । 1977 से पहले तक यह प्रांतीय अभिजन या तो बहुत दुबले और दिल्ली निर्भर था या अपने स्वायत्त बाहुबल का उसे अहसास नहीं था । (3) जन जागृति के बढ़ते वृत्त के कारण जिले-जिले में आज ऐसे संवाददाता हैं, विश्वविद्यालयों में ऐसे प्रोफेसर और कुल-पति हैं, जज हैं, आई. ए. एस. अफसर हैं, टेक्नोक्रेट हैं, जिसके कारण एक बौद्धिक समाज हिंदी राज्यों में उभरता लग रहा है । प्रांतीय बाजार और प्रांतीय बौद्धिकता के बीज भी पड़ रहे हैं और प्रांतीय असहमति के भी । वह नहीं हो, तो अखबारों को लेखक कहां से मिलेंगे और उसमें छपेगा क्या ? थीसिस के खिलाफ एण्टी थीसिस कैसे खड़ी होगी और प्रांतीय संस्थानों को संस्थान विरोध कहां से मिलेगा ।'

हिंदी पत्रकारों की दशा भी हिंदी पत्रकारिता से भिन्न नहीं है । 'समाचार पत्र' आज ताकत और पैसा कमाने के साधन मात्र बन कर रह गए हैं । 'समाचार पत्र' मालिकों का नियंत्रण लगातार बढ़ रहा है । प्रायः हिंदी समाचार पत्रों में मालिक और संपादक संस्था एक ही होती जा रही है । इलेक्ट्रानिक मीडिया का दबाव भी प्रिंट मीडिया पर सघनता से महसूस किया जा रहा है, बाजार की शक्तियां तो प्रभावित कर ही रही हैं । 'लोकतंत्र' की वजह से राजनीति तो निचले धरातल तक पहुंच चुकी है, लेकिन अर्थनीति के उदारीकरण की वजह से अर्थ का केंद्रीकरण लगातार बढ़ा है । पैसे का वितरण और भी असमान हुआ है । बौद्धिकता, राजनीति की तरह कोई लोकतंत्र के साथ फैलनेवाली चीज नहीं है, इसलिए बौद्धिकता का भी शहरों और गांवों में वितरण और भी असमान हुआ है ; धन के असमान वितरण ने इस समस्या को और गहराया है । कुल मिलाकर यह कि राजनीति के विकेंद्रीकरण ने हिंदी पत्र-कारिता का प्रसार किया है, उसे मजबूती भी प्रदान की है । लेकिन यह मजबूती समाचार पत्र मालिकों के हित में गई है, उसका श्रेय भी उन्हें ही मिला है ।

हिंदी पत्रकार की स्थिति तो इस सब से और बदतर ही हुई है।[1] उसके काम करने की स्थितियां लगातार बदतर हुई हैं, उससे कराये जाने वाले काम का स्तर भी गिरा है; तथा उसे उसके काम के अनुपात में पैसा भी नहीं दिया जा रहा है।

आखिर व्यक्ति स्वतंत्रता सिर्फ दो स्तरों पर प्राप्त कर सकता है, करता है। प्रथम, विचार के स्तर पर अपने को समृद्ध करके। द्वितीय, आज पैसे का दूसरा नाम हो गया है स्वाधीनता। हिंदी पत्रकारिता में इन दोनों का स्तर गिरा है, जिसका शिकार मालिक वर्ग नहीं वरन् पत्रकार हुआ है। पत्रकार को मालिकों से भी बनानी है, और सरकार से भी। जबकि आपातकाल के बाद सरकार तथा प्रबंधक (मालिक) वर्ग परस्पर निकट आए हैं। इस तरह पत्रकार की स्वतंत्रता कई स्तरों पर पहले से अधिक सीमित हो गई है। बढ़ती जनसंख्या और बेरोजगारी ने इस स्थिति को बदतर किया है। पर बकौल पत्रकार सुरेंद्र प्रताप सिंह, 'आज हिंदी पत्रकारिता का स्वर्ण युग चल रहा है, विचार और समाचार के स्तर को लेकर चिंता हो सकती है, पर यह स्थिति समय के साथ ठीक हो जायेगी।'[2]

---

1. आज से पूर्व हिंदी पत्रकारों की जो दशा थी, उसका चित्रण मोहन राकेश ने अपने उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' में किया है। इससे लगता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्य हिंदी पत्रकार बहुत खराब स्थिति में था।
2. 'जनसत्ता' (हिंदी दैनिक), 15 जून 1987, दिल्ली संस्करण, सुरेंद्र प्रताप सिंह का साक्षात्कार।

(2) 1970-80 के दशक का ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक परिदृश्य

अपनी सुरक्षता यों

'यदि अमन यही होता है कि
बर्फ के पहाड़ों पर लुढ़कता पत्थरों सा
टूटता रहे हमारा वजूद
कि तनख्वाहों के मुंह पर थूकती रहे
कीमतों की बेशर्म हंसी
कि अपने ही लहू में नहाना
तीर्थ का पुण्य : हो -
तो हमें अमन से खतरा है
यदि देश की सुरक्षा यही होती है
कि हर हड़ताल को कुचल कर
अमन को रंग चढ़ना है
कि सूरमताई सरहदों पर मरने से
परवान चढ़नी है
कला का फूल राजा की खिड़की में खिलना
है
अक्ल ने 'हुक्म' के जुए में जुत कर
धरती सींचनी है
मेहनत को राजमहल के द्वार का भाड़ू
बनना है
तो हमें देश की सुरक्षा से खतरा है ।'[1]

---

1. उड़दे बाजां मगर, अवतार सिंह 'पाश', पृ0 561

स्वतंत्रता के बाद के परिप्रेक्ष्य में 'विकास' भारत के लिए सबसे बड़ी घटना के रूप में उभरा है । बाकी सारी घटनाएं इसी गंगोत्री से निकलती हैं, इसी की अनुगूंजें हैं । ए. आर. देसाई[1] के साक्ष्य से न कहें तो 'अगर भारत के विकास की जटिलताओं को समझना है तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि भारतीय राज्य एक वर्ग राज्य है भारतीय बुर्जुआ का । तथा भारत ने आधुनिकता का पूंजीवादी रास्ता अपनाया है । इसको स्वीकार किए बिना हम गलत होंगे ; वह हमें सही दिशा में नहीं ले जाएगा ।'

इसे और भी मूर्त करती हैं कुसुम सिंह,[2] 'भारत की सत्ता संरचना उद्योग-पतियों - भूमिमालिकों - राजनेताओं - नौकरशाहों के ढीले-ढाले गठबंधन पर आधारित है । यह भारत की पुरानी जाति व्यवस्था पर निर्मित है तथा आंशिक रूप से इसे स्थानापन्न भी करती है । इस गठजोड़ के कई शीर्ष लोग आधिकारिक रूप से घोषित उद्देश्य समाजवाद के प्रति अत्यधिक अनिर्णीत हैं ।'

'एक समग्र अवलोकन करें तो हम पाते हैं कि पिछले दो दशकों में भारत के विकास की गति स्तब्ध करने जैसी धीमी रही है, और जो भी आर्थिक उन्नति हुई है, वह गरीब की कीमत पर । 72 प्रतिशत जनता अभी भी असाक्षर है । उच्च शिक्षा में भारी निवेश की लगातार जारी प्रवृत्ति, और प्राथमिक शिक्षा (मास एजूकेशन) में न्यूनतम निवेश समानता तथा दीर्घकालीन उन्नति दोनों को बुरी तरह से प्रभावित करता रहा है । यह शिक्षा व्यवस्था न केवल उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग के हितों का पोषण जारी रखे हुए है, वरन् औद्योगिक विकास

---

1. स्टेट एण्ड सोसायटी इन इण्डिया : ऐसे इन डिसेन्ट, ए. आर. देसाई, भूमिका, में, 1975 ।
2. 'मास मीडिया पालटिक्स इन चेंजिंग कल्चर', संपादक जी. गर्बनर, न्यूयार्क : जान वाइली, 1977 में कुसुम सिंह का लेख 'रलीट कंट्रोल एण्ड चैलेन्ज इन चेंजिंग इण्डिया,' पृ० 159

भी इसी श्रेणी केलोगों को उपभोक्ता सामग्री प्रदान करने के लिए प्रेरित होता है । औद्योगिकीकरण तथा शहरीकरण के द्वारा आर्थिक उन्नति पर जोर ने हमें बढ़ते रूप से विदेशी सहायता पर निर्भर बनाया है, और इस तरह यह अब स्वत: जारी रहने वाली प्रक्रिया बन गई है ।

बौद्धिक वर्ग संचार-सूत्र तथा मध्यस्थ के रूप में शीर्ष पर विराजमान शासक तथा तल पर स्थित आम जन के बीच निर्णायक भूमिका अदा करता है । आज का आधुनिक राज्य विचारधारा का उपयोग अवश्य करता है, और इसके लिए उसे इंटेलक्चुअल की आवश्यकता होती है, जिससे विश्वसनीयता के बंध निर्मित हो सकें । तथा संचार में निष्णात होने के कारण ये जन संचार साधनों का उपयोग कर अभिजन और गैर अभिजन दोनों को एक ही समान प्रभावित करने की स्थिति में होते हैं ।*

लेकिन भारत में इस तरह का जोड़ने वाला कोई एक संचार माध्यम नहीं है । भौगोलिक, भाषिक, जातीय, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक दूरियां विभिन्नताएं और विषमताएं इसमें बहुत गहरे बाधा उपस्थित करती हैं । सबसे बड़ी बाधा शासक वर्ग और शासित (शोषित) वर्ग का भाषिक आधार होना है । भारत का अंग्रेजी मीडिया और हिंदी मीडिया दोनों दो विभिन्न वर्गों के लिए हैं, इसलिए दोनों ही शासक वर्ग तथा जनता के बीच सूत्र बनाने की भूमिका निभाने की स्थिति में नहीं होते हैं । पहला जहां शासक वर्ग के लिए है, उसकी आवाज उसमें हम देख सकते हैं, तो दूसरा सिर्फ जनता तक पहुंच पाता है, उसकी समस्याएं उसमें अभिव्यक्ति पाती हैं । दोनों वर्गों के बीच संवाद का कोई सूत्र नहीं बन पाता है ।

अस्सी का दशक आंदोलन और दमन का युग रहा है ।[1] असहमतियों के

---

1. अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी साठ और सत्तर का दशक छात्र आंदोलन का युग रहा ।

कोहराम में शासक वर्ग की शांति और व्यवस्था की कामना का युग रहा । आंदोलन मूलत: अपनी प्रकृति में छात्र आंदोलन के रूप में प्रारंभ हुआ, गुजरात से । जिसने बाद में बिहार में भी जोर पकड़ा, तथा जिसे जयप्रकाश नारायण का नेतृत्व मिला । और जयप्रकाश नारायण के ही शब्दों में - जन आंदोलन में राजनीतिक पार्टियों को आने से रोका नहीं जा सकता था तथा आंदोलन राजनीतिक पार्टियों के बिना जन आंदोलन नहीं बन सकता ।[1] इस प्रकार इस आंदोलन ने कांग्रेस विरोध का रूप धारण कर लिया । बहुत कुछ विरोध के लिए विरोध की तर्ज पर ।

आंदोलन के मुख्य मुद्दे थे[2] - भ्रष्टाचार समाप्ति, चुनाव प्रक्रिया में सुधार, शिक्षा व्यवस्था से असंतुष्टि, अभूतपूर्व मुद्रास्फीति की वजह से महंगाई तो थी ही, केंद्रीकरण और व्यक्ति पूजा का विरोध । गरीबी और बेरोजगारी तो इन सब के मूल में थे ही ।

जनता के इस पक्ष के बरक्स शासन का अपना पक्ष था । उसकी मांग थी स्थिरता की, अनुशासन की, उत्पादन में वृद्धि की तथा देश की एकता और अखण्डता की और `ला एण्ड आर्डर` की । आंदोलन से देश की `आंतरिक सुरक्षा` (इंटरनल डिस्टर्बन्स) को खतरा पैदा हो गया है, `देश की सुरक्षा` खतरे में है, जिसकी रक्षा के लिए प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी ने बिना केबिनट की मीटिंग बुलाये राष्ट्रपति से रात में ही आपात काल लगाने का आग्रह किया था और राष्ट्रपति ने अभी आपातकाल की घोषणा नहीं की थी कि उससे पहले ही गिरफ्तारियां शुरू हो गयी थीं ।[3] और इस तरह `स्थिरता` की तथा `ला एण्ड आर्डर` की रक्षा की गई ।

लेकिन शाह कमीशन की सुनवाई के दौरान जो तथ्य सामने आए, उसके अनुसार 'कानून और व्यवस्था की स्थिति पूरी तरह नियंत्रण में थी, आर्थिक मोर्चे पर भी कोई अत्यंत चिंताजनक स्थिति नहीं थी । यहां तक कि आपात-काल उठा लेने के बाद भी गृह मंत्रालय के पास उस फाइल की कोई प्रति नहीं थी, जिसमें राष्ट्रपति से आपात काल लगाने की अनुशंसा की गई थी ।[1]

विभिन्न राज्यों के राज्यपालों द्वारा राष्ट्रपति को हर पन्द्रह दिन में भेजी जाने वाली रिपोर्टों में तथा मुख्यमंत्री के सचिवों द्वारा केन्द्र के गृह सचिव को भेजी जाने वाली रिपोर्टों में भी 'कानून और व्यवस्था' की स्थिति पूरी तरह नियंत्रण में बताई गई है ।[2] 12 जून से लेकर 25 जून के बीच इंटेलीजेंस ब्यूरो ने भी किसी आंतरिक अव्यवस्था की कोई रिपोर्ट नहीं भेजी थी ।

परंतु जनता के पक्ष और मुद्दे इतने मजबूत थे कि आपातकाल भी उन्हें भुठला नहीं सका । उस समय उठाये गए सारे मुद्दे आज भी पहले से अधिक निर्णायक रूप में मौजूद हैं और देश की राजनीति में विभिन्न रूपों में दिशा निर्धारक के रूप में काम कर रहे हैं । राजनीति, अर्थनीति और पत्रकारिता सभी को इनसे दो चार होकर ही अपना और राष्ट्र तथा समाज का मार्ग तय करना है ; इनसे बचकर अथवा इन्हें दबा कर इनका हल नहीं किया जा सकता ।

---

1. शाह कमीशन : अंतरिम रिपोर्ट, प्रथम भाग, पृ0 26, अनुच्छेद 5.60
2. वही पृष्ठ

(3) आपातकाल, लोकतंत्र और अभिव्यक्ति

'जब मैं जोर से तथा साफ रूप में उस पर बात करता जो कि मैं महसूस करता, तो मैं दूसरे व्यक्तियों के चेहरे पर चिंता तथा भय की रेखाएं रेंगते हुए देख सकता था । अभिजनों के चेहरे पर तैरने वाली यह सहसा भयातुरता गहरे तक बेचैनकरने वाली थी । कितना गलत था वह आश्वासन जो कि मैं अपने आप को देता था -'यह यहां कभी नहीं हो सकता' ।... मैं अपने आप को वापिस महात्मा गांधी की ओर सोचते पाया । कैसे उन्हें यह सब किया था । कैसे उन्होंने भय को अपने से दूर किया था, बिना किसी जनसंचार साधनों तथा अन्य साधनों के । ... निहायत ही अकेले हो जाने का यह अत्यंत कष्टकारक अनुभव था । अब तक मैंने यह कभी अनुभव नहीं किया था कि सेन्सर मानव की भावनाओं को किस तरह प्रभावित कर सकता है । काम की निरंतरता और पोषकता से कट जाने पर आदमी का अपने आप में विश्वास कम होने लगता है । मेरी प्रतिक्रिया इस तरह की थी क्योंकि उसमें दोनों बातें शामिल थीं कि सिर्फ क्या है ही नहीं, बल्कि क्या हो सकता है, अगर कोई नहीं बोला ।'[1]

लोकतंत्र सिर्फ शासन व्यवस्था का ही एक प्रकार नहीं है और न ही लोकतंत्र शब्द मुहावरा मात्र । इसी तरह आपातकाल भी एक शब्द मात्र नहीं है । लोकतंत्र में आग्रह होता है कि राष्ट्र, लोक केलिए है, लोक या जनता, राष्ट्र के लिए नहीं । पर आपात काल में तर्क बदल गए थे । संविधान के ही अनुसार व्यक्ति के सारे मौलिक अधिकार निलंबित कर दिए गये थे और उनको लागू कराने के लिए व्यक्ति न्यायालय की भी शरण में नहीं जा सकता था । और यह सब किया गया था लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर । राष्ट्र की सुरक्षा के नाम पर ।

---

1. राज थापर, सेमीनार, इमेज आफ इमर्जेन्सी, मार्च 1977, पृ० 32-35

सबसे हैरत की और निश्चित रूप से ध्यान देने की बात यह है कि आपातकाल की घोषणा का कदम इंदिरा गांधी का व्यक्तिगत निर्णय था, किसी परिस्थिति का परिणाम या केबिनेट की सर्वसम्मति से लिया गया निर्णय नहीं । न तो इसकी पूर्व तैयारी थी और न इंदिरा गांधी के पास किसी तानाशाह जैसी[1] अपने समर्थकों की एक फौज-फाटा । सिन्हा के हवाले से कहें तो इन्हीं परिस्थितियों में अमरीका में रिचर्ड निक्सन के इस तरह के कदम को जनता ने एकमत से ठुकरा दिया होता । पर हम जानते हैं कि भारत में जनता को अपने अपने स्तर पर यह कदम स्वीकार चाहे न हो, पर इसका एकजुट होकर विरोध हम नहीं कर सके थे ।

निश्चित रूप से यह घटनाएं हमारे राष्ट्र और समाज के लोकतांत्रिक चरित्र पर प्रश्न चिन्ह लाती हैं । लोकतांत्रिक क्लेवर और संविधान के तले हम यहां आकर अपने राष्ट्र और राज्य की सामंती और फासिस्ट अनुगूंजें सुन सकते हैं, और बंद तथा जड़ भारत में इस गूंज-दर-गूंज को हम नकार नहीं सकते कि सिर्फ शासन व्यवस्था बदली है, समाज नहीं । इसी तरह हमारा संविधान प्रकट तौर पर लोकतांत्रिक है, पर `हृदय से अलोकतांत्रिक`[2] है । उपनिवेशवाद और उसके खिलाफ उभरी चेतना के फलस्वरूप जो जकड़न समाज की टूटी थी, जो संघर्ष का माद्दा समाज में पैदा हुआ था, आकांक्षाओं को जो विस्तार मिलाथा, वो अस्सी के दशक तक आकर हम शिथिल और सुस्त हुआ पाते हैं ।[3]

---

1. इमर्जेन्सी इन पर्सपेक्टिव` की भूमिका में सच्चिदानंद सिन्हा ।
2. `व्यालेशन आफ डेमोक्रेटिक राइट इन इण्डिया` (संपा०) ए. आर. देसाई में पी. पद्मनाभन का लेख, पृ० 73 `अनडेमोक्रेटिक हर्ट आफ द इण्डियन कांस्टीट्यूशन` ।
3. `विचार का डर` में `अंधेरे छा रहे होंगे `, पृ० 58-77 । कृष्ण कुमार, राजकमल प्रकाशन, 1996 ।

अस्सी का दशक फमेंड़ (वाटर शेड) की तरह आया । दशक के पहले के आर्थिक और सांस्कृतिक माहौल में तथा दशक के बाद के माहौल में हम काफी फर्क देख सकते हैं । जनता की ताकत के मुकाबले राज्य की ताकत लातार बढ़ी है और वाणी की ताकत की मुकाबले सत्ता की । हैरोल्ड लासवेल की शब्दावली में कहें तो सामूहिक आउटलुक निराशावादी हो जाने की वजह से अभिव्यक्ति सूक्तिमय और सपाट हो गयी ।[1]

आपातकाल भारत में पहली बार नहीं लागू किया गया था। लेकिन ऐसा पहली बार हुआ था जब आपातकाल को न्यायसंगत और वक्त की जरूरत प्रमाणित करने के लिए प्रधानमंत्री को भाषण और लेख लिखने पड़े हों । आपातकाल की उपलब्धियां गिनाने के लिए राज्य को पूरे संचार साधन झोंक देने पड़े हों । असहमतियां नितांत असहनीय हो गई हों । 1971 में लागू किया गया आपातकाल(जिसमें व्यापार व्यवहार नियम, नियम क्रमांक 12, 1961 की सहायता नहीं ली गई थी, व जिसके लिए केबिनेट की मीटिंग बुलाकर, गृहमंत्रालय की सहमति प्राप्त करने के बाद घोषणा की गई थी) अभी हटाया नहीं गया था । 1962 में चीन के साथ युद्ध के समय लागू किया गया आपातकाल भी अभी प्रभाव-हीन नहीं किया गया था । ऐसे समय में तीसरे आपातकाल की घोषणा को कोर्ट में चुनौती देने से भले ही प्रतिबंधित कर दिया गया हो, पर इससे उसका औचित्य सिद्ध नहीं होता । जयप्रकाश नारायण ने यह जायज प्रश्न उठाया है कि अगर इसकी आवश्यकता थी भी तो `प्रेस की स्वतंत्रता` के दमन का क्या तर्क है ?[2] जयप्रकाश नारायण ने यहां इंदिरा गांधी के इस वक्तव्य पर भी घोर आपत्ति व्यक्त की है कि `लोकतंत्र देश से ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं है ।` उन्होंने लिखा है,

---

1. फिल्मी गानों के संदर्भ में इसका विवेचन कृष्ण कुमार के `विचार का डर` में `अंधेरे छा रहे होंगे ` लेख में है ।
2. सेमीनार, मार्च 1977, इमेज आफ इमर्जेन्सी, जयप्रकाश नारायण का इंदिरा गांधी को पत्र ।

'हम सब, जिन्हें आपने बंद कर रखा है, ने देश के लिए आपसे ज्यादा किया है । और उतने ही अच्छे देशभक्त हैं जितनी कि आप । इसलिए देश के बारे में व्याख्यान देकर हमारे घावों पर नमक न छिड़कें ।'[1]

लोकतंत्र को विदेशी बताकर भी उसे उस समय भारत के लिए अनुपयुक्त व गैर जरूरी बताया गया । यहां तक कि निर्वाचित नेता (प्रमुख जन प्रतिनिधि) जिनमें प्रधान मंत्री को आवश्यक रूप से शामिल किया गया, पद ग्रहण करने के बाद या पहले किए गए किसी भी काम के लिए, कानून की परिधि में नहीं आते इस आशय का प्रस्ताव भी राज्य सभा ने पारित कर दिया ।[2] हमारे 'इंटेलीजेंसिया और कई प्रगतिशील कहे जाने वाले लोगों ने इन कामों का समर्थन किया । जिन भी लोगों ने 'आपातकाल' में राज्य के साथ चलने में आना-कानी दिखाई, उन्हें तरह तरह से परेशान किया । उदाहरण के लिए पत्रकार कुलदीप नैयर को मीसा के अधीन हिरासत में रखा गया । इतिहासकार रोमिला थापर ने आपातकाल के समर्थन में हस्ताक्षर अभियान में हस्ताक्षर करने से मना करने पर उनके आयकर के खातों को फिर से खुलवाया गया ।[3] गायक और एक्टर किशोर कुमार के बीस-सूत्री कार्यक्रम के समर्थन में रेडियो या स्टेज पर साथ देने से मना करने पर उनकी सारी फिल्मों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया[4], दूरदर्शन और आल इण्डिया रेडियो पर उनके गानों को प्रतिबंधित कर दिया गया । किशोर कुमार के गानों के कैसेट्स तथा ग्रामोफोन की बिक्री जाम कर दी गयी । और शाह कमीशन की ही रिपोर्ट के अनुसार फिल्म इण्डस्ट्री पर इसका ठोस और सरकार के लिए सकारात्मक प्रभाव पड़ा ।

---

1. सेमीनार, मार्च 1977, इमेज आफ इमर्जेन्सी, जयप्रकाश नारायण का इंदिरा गांधी को पत्र ।
2. जजमेंट, कुलदीप नैयर
3. इमर्जेन्सी एक्सिस : शाह कमीशन, खण्ड दो, अध्याय आठ, पृष्ठ आठ-नौ
4

इंदिरा गांधी का एक प्रिय सवाल और प्रचार यह भी था कि छ: महीने के ही अंदर चुनाव होने वाले थे, फिर मेरे विरोध में इतने बड़े आंदोलन की क्या जरूरत थी, क्या अगले चुनाव तक इंतजार नहीं किया जा सकता था। जयप्रकाश नारायण ने इसे चंद्रशेखर के प्रश्न के साथ कि `यह सब किसलिए था, क्या सिर्फ इंदिरा गांधी को अथवा सरकार को हटाने के लिए था ` - जोड़कर जवाब दिया है[1], `कि ऊपरी तौर पर देखने से हमें यह लगता है। लेकिन हम थोड़ा सा गहरे सोचें तो यह सहज ही समझ में आ जाता है कि गुजरात आंदोलन भारत के लोकतंत्र की ओर यात्रा में मील का पत्थर है। इसके अतिरिक्त संसदीय लोकतंत्र में, लोक (डेमोस) सिर्फ निष्क्रिय एजेंट नहीं होते वरन् सक्रिय, मांगों से पूर्ण तथा अंत में नियंत्रित करने वाले होते हैं। गुजरात आंदोलन ने भारत के इतिहास में पहली बार जनता की वरीयता - सर्वोच्चता स्थापित की ; राजनीतिक दलों-संगठनों के नेतृत्व पर पहुंचते, उन्हें चुनौती देते और अपनी इच्छाओं पर जोर देते हुए... भारत और भारत का लोकतंत्र गुजरात आन्दोलन के बाद कभी वैसा नहीं रहेगा, जैसा इसके पहले था।`

वस्तुत: वे आदर्श जिनके लिए व्यक्ति या राष्ट्र युद्ध करता है, शीघ्र त्यागना संभव नहीं होता। यूरोप में अगर लोकतंत्र की जड़ें अधिक मजबूत हैं, तो इसकी यही वजह है कि यहां लोकतंत्र विद्रोहों का परिणाम था, बाहर से आरोपित कोई चीज़ नहीं। पी. पद्मनाभन ने लिखा है[2], `हमारे देश में कोई लोकतांत्रिक परंपरा नहीं है जिससे हम संस्तुति और प्रेरणा पा सकें। बुर्जुआ लोकतंत्र, जो कि पश्चिम में विकसित हुआ, उस क्रांति और विद्रोहों का सीधा परिणाम है जिसने सामंती सामाजिक विधि व्यवस्था को आमूल उखाड़ फेंका

---

1. `ए रिवोल्यूशिनरी क्वेस्ट` (सिलेक्टिड राइटिंग आफ जे. पी.) (संपा०) विमल प्रसाद, पृ० 365, आक्सफोर्ड प्रकाशन
2. `व्यालेशन आफ डेमोक्रेटिक राइट इन इण्डिया`, ए. आर. देसाई, पापुलर पब्लिकेशन, 1977, पृ० 73

था । इस उभरते तथा युवा बुर्जुआ ने अपनी राज्य व्यवस्था सड़ते गलते सामंती व्यवस्था के खण्डहरों पर तैयार की । स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, कानून का शासन, प्रतिनिधियों की सरकार, ये सब उस समय विद्यमान सामंती सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का सीधा परिणाम थे । ग्रेट ब्रिटेन और फ्रेंच क्रांति के महान क्रांतिकारी, स्वाधीनता के लिए अमरीका का युद्ध नई सामाजिक व्यवस्था के लिए दमित लोगों की हिंसक अभिव्यक्ति ही थे । बिल आफ राइट, राइट आफ मैन ऐसे चार्टर थे जो कि लंदन टावर के स्केफोल्ड तथा पेरिस के गुलोटिन पर लिखे गए थे । भारतीय लोकतंत्र की जड़ों का पोषण पुरानी सामंती सामाजिक व्यवस्था की राख पर नहीं हुआ है । इसलिए यहआश्चर्य की बात नहीं कि नागरिक स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक अधिकार आंदोलन भारत में ताकत प्राप्त नहीं कर सके ।

आपातकाल ने तमाम तर्कों के नाम पर भारतीय जनता के स्वतंत्रता के संघर्ष को एक बड़ा धक्का दिया जो कि भारत के जनमानस पर लंबे समय तक अंकित रहेगा ।

आज लोकतंत्र और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर सबसे बड़े खतरे अर्थतंत्र और बाजार की ओर से हैं, जिनकी आड़ में 'शांति' के आग्रह के साथ लोकतांत्रिक अधिकारों को सीमित किया जा रहा है । वस्तुत: [1] 'अर्थव्यवस्था और व्यापार के मूल्यों पर और इनके लिए लोकतंत्र की रक्षा के तर्क नहीं गढ़े जा सकते । एक बहुभाषी, बहुसंप्रदायी, और बहुजातीय महाद्वीपीय देश में, जहां घनघोर विषमताएं हैं और एक संकरे आधार पर आधृत अभिजन इतिहास में पहली बार एक राष्ट्र को आकार दे रहा है, लोकतंत्र जिंदा रहने की आवश्यक शर्त है । लोकतंत्र स्वयं अपने में ही कीमती समझा जाना चाहिए, जिससे भारत एक राष्ट्र के रूप में विकसित हो सके, न कि किसी साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में ।

---

1. संजय बारू, टाइम्स आफ इण्डिया, 29 जून, 1995

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतंत्र की पूर्व शर्त है । अभिव्यक्ति का दमन किए बगैर अर्थात् जनता और शासक तथा जनता-जनता में संवाद व संचार समाप्त किए बगैर लोकतंत्र को विस्थापित नहीं किया जा सकता । इसीलिए आपातकाल ने अभिव्यक्ति के दमन के भरपूर व हर स्तर पर प्रयास किए ।

प्रेस कौंसिल तथा इसके अधीनस्थ दर्ज मामले तो निष्क्रिय किये ही गए तथा प्रेसों (समाचार पत्रों के आफिस) के कार्यालय में एक अधिकारी भी नियुक्त किया गया जो यह बताता था कि क्या छपेगा, क्या नहीं । कुछ जमा संपादकों के मण्डल ने एक कोड आफ इथिक्स भी बनाया समाचार पत्रों के लिए । इस 3000 शब्दों के फर्पट्टे में एक बार भी 'फ्रीडम आफ प्रेस' शब्द का उल्लेख नहीं किया गया था ।[1]

संसद की कार्यवाही में 'प्रश्नकाल' समाप्त कर दिया गया । उसका प्रकाशन भी निषिद्ध कर दिया गया ।

सुप्रीम कोर्ट में इंदिरा गांधी का प्रकरण विचारार्थ था । इसलिए यह तैयारी की गई कि कोई भी 'अहितकारी तथा अयाचित' सूचना तथा निर्णय प्रकाशित न हो । चीफ सेन्सर हेरी डी पेन्हा ने विशेष आदेश द्वारा समाचार पत्रों तथा समाचार एजेंसियों तथा अन्य सूचना साधनों के द्वारा यह व्यवस्था की कि न्यायालय कार्यवाही का कोई भी रूप बिना अनुमति के प्रकाशित नहीं किया जाएगा । सभी समाचार पत्रों ने बिना किसी विरोध के इसका अनुपालन किया । मुख्य न्यायाधीश ने भी सेन्सर द्वारा सुप्रीम कोर्ट की कार्यवाही के सेन्सर के इस आदेश पर कोई आपत्ति व्यक्त नहीं की - इसके पहले न्यायालय के इतिहास

---

1. जजमेंट, कुलदीप नैयर, पृष्ठ 65, विकास पब्लिकेशन
2. वही, पृ0 80-81

में यह कमी नहीं हुआ । यहां तक कि उन्होंने कार्यवाही सुनने आने वाले वकीलों की जांच का भी समर्थन किया, जो कि तीव्र विरोध के कारण लागू नहीं किया जा सका ।

इसके अलावा दिन प्रतिदिन दिए जाने वाले सेन्सर के कुछ प्रमुख आदेश इस प्रकार है[1] --

(1) बोनस के ऊपर जारी अध्यादेश की ट्रेड यूनियन द्वारा की गई कोई आलोचना प्रकाशित नहीं की जाएगी तथा न ही बोनस पर कोई लेख, समाचार बिना अग्र सूचना मिले प्रकाशित किया जाएगा ।

(2) सेन्सरशिप का उद्देश्य लोगों की चुप्पी तय कराना था । स्वतंत्रता, लोकतंत्र पर कोई भी सकारात्मक टिप्पणी, उद्धरण (चाहे वो श्रीमती गांधी के ही कोई क्यों न हो) प्रकाशित होने की अनुमति नहीं थी ।

(3) राजमोहन गांधी और निखिल चक्रवर्ती ने कमीशन को बताया कि सरकार का आग्रह और आपत्ति संपादकीय जगह छोड़ने पर थी, क्योंकि वे यह प्रभाव छोड़ना चाहते थे कि कोई सेन्सरशिप लागू नहीं है ।

(4) पत्रकारों को इंटेलीजेंस ब्यूरो से अपना पहचान पत्र प्रमाणित कराना अनिवार्य कर दिया गया । उनके कुछ विशेषाधिकार - जैसे संसद भवन में कार्यवाही सुनने की अनुमति आदि को सेंसर किया गया । विदेशी पत्रकारों और समाचार पत्रों के प्रतिनिधियों को भी परेशान किया गया - उदाहरण के लिए `न्यूजवीक` अमेरिकी पत्रिका के प्रतिनिधि रामानुजम का आवास व पहचान पत्र छीन लिया गया, टेलीफोन काट दिया गया ।

(5) जो राजनेता इस समय शासन करने वाले समूह के साथ नहीं रहे, उनकी छवि खराब करने के लिए आल इण्डिया रेडियो पर निंदापरक आख्यान

---

1. शाह कमीशन रिपोर्ट आन इमर्जेन्सी एक्सिस, खण्ड 1, पृ० 33-48

प्रसारित किए गए । उदाहरण के लिए उड़ीसा की पूर्व मुख्य मंत्री नन्दिनी सत्पथी ।

(6) विपक्ष के खिलाफ रुख इतना साफ था कि दिसम्बर 1976 में आल इण्डिया रेडियो ने कांग्रेस के प्रवक्ता को 2207 पंक्ति दीं, जबकि विपक्ष के प्रवक्ता को 34 लाइन । दिसम्बर 1974में यही अनुपात 571 और 522 का था ।

(7) आल इण्डिया रेडियो के डायरेक्टर के अनुसार पूरे आपातकाल के दौरान सरकार की नीति यह रही कि यह श्रीमती गांधी तथा उनके पुत्र संजय गांधी के भाषणों को बजाए । इस दौरान श्रीमती गांधी न्यूजरील व समाचार दर्शन पर 171 अवसरों पर तथा संजय गांधी 24 बार दिखाये गये । `आल इण्डिया रेडियो` ने संजय गांधी को व्यापक प्रचार दिया । 1 जनवरी 1976 से 18 जनवरी 1977 के बीच संजय गांधी के आइटम 92 बार प्रसारित किए गए ।

(8) बहु-मीडिया अभियान आपात काल को श्रीमती गांधी के कैरियर में एक मील का पत्थर बताने के लिए तथा उसे महत्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध करने के लिए चलाया गया । श्रीमती गांधी के शासन में दस वर्ष पूरे होने पर `डिकेड आफ एचीवमेंट` तथा आपातकाल के एक वर्ष पूरे होने पर `ईयर आफ फुल-फिलमेंट` का अभियान चलाया गया । इंदिरा गांधी के भाषणों के टेप रिकार्ड ग्रामीण और अर्धशहरी क्षेत्रों में बजाने के लिए प्रसारित किए गए । `डायरेक्टर आफ फील्ड पब्लिसिटी` को इंदिरा गांधी पर बनाई गई सात फिल्मों का सघन रूप से प्रसार करने के लिए आदेश दिया गया । `आल इण्डिया रेडियो` को निर्देश दिया गया कि इंदिरा गांधी के भाषणों से 200 उद्धरण चुन कर उनमें से पांच - दस रोज प्रसारित करे । प्रकाशन विभाग को भी निर्देश दिया गया कि श्रीमती गांधी की पुस्तकों की बिक्री में तेजी लाए तथा विभिन्न पत्रिकाओं में श्रीमती गांधी के सूचनापरक व रोचक चित्र प्रकाशित करे ।

वस्तुत: आपातकालमें लोकतंत्र को हर बड़े तथा सूक्ष्म स्तर पर नष्ट किया गया, लोकतांत्रिक मूल्यों का अतिक्रमण किया गया । भय और दिमागी धुलाई द्वारा समाज में स्वतंत्रता के भाव को समाप्तप्राय किया गया । शासक वर्ग द्वारा निर्वैयक्तिक रूप से स्वउद्धरणों-संदर्भों-प्रतीकों का हवाला दिया जाने लगा, जो कि एक तानाशाही और फासिस्ट समाज की विशेषता है । हैरोल्ड लासवेल के शब्दों में[1] 'चूंकि अलोकतांत्रिक अभिजन श्रेष्ठता (ओढ़ना) चाहता है, इसलिए वह 'दूरी' तथा 'ऊपर' की पगबाधा (बैरियर) अपने तथा अन्य स्तरों के लोगों के मध्य उपस्थित करता है । प्रतीक और चिन्ह वे उपकरण हैं जो कि 'दूर' तथा 'ऊपर' रहने के लिए अभिजन द्वारा प्रयुक्त किए जाते हैं । ... आदेश जारी किए जाते हैं तथा उनका पालन अनिवार्य होता है । शब्द और ऊपरी आवरण (वीयरिंग) इस तरह तैयार किए जाते हैं कि जो शासक को उसके अधीनस्थों से 'भिन्न' तथा 'श्रेष्ठ' स्थापित करें । स्व-उद्धरण के वाक्य व वाक्य-विन्यास औपचारिक सार्वजनिक अवसरों पर निर्वैयक्तिक, बोझिल और स्टीरियोटाइप हो जाते हैं ।'

कुलदीप नैयर[2] ने जार्ज आरवेल का हवाला देते हुए श्रीमती गांधी के 'लोकतंत्र की रक्षा' के लिए उठाये गए कदम और उसको बुद्धिसंगत बनाने के लिए किए गए प्रचार का जवाब देते हुए लिखा है, 'जब हम किसी देश को लोकतांत्रिक कहते हैं तो यह सार्वभौमिक रूप से महसूस किया जाता है कि हम उसकी प्रशंसा कर रहे हैं : इसी कारण दुनिया के सभी प्रदेशों के तानाशाह यह दावा करते हैं कि उनका शासन लोकतांत्रिक है ।'

---

1. 'हैरोल्ड लासवेल, 'लैंग्वेज आफ पालटिक्स' में अध्याय 'डेमोक्रेसी, डेसपोटिज्म एण्ड स्टाइल' ।
2. जजमेंट, पृ० 55, कुलदीप नैयर, विकास पब्लिशंग हाउस, दिल्ली ।

प्रेस सेन्सरशिप लाद कर, मौलिक अधिकार निलंबित करके, सैंकड़ों को बिना किसी कार्यवाही के हिरासत में रखने के बाद भी इंदिरा गांधी का देश में लोकतंत्र कायम रहने का दावा उसी तर्ज पर कर सकती थीं, जैसे ऑस्ट्रेलियन भाषा में युद्ध मंत्रालय को शांति मंत्रालय कहते हैं। विडम्बना यह है कि इसी समय देश के संविधान के पुरोवाक् में `प्रमुख संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य` की जगह `संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य` जोड़ा गया तथा `राष्ट्र की एकता` की जगह `राष्ट्र की एकता और अखण्डता`। किसी ने सच ही कहा है कि `जो काम हम जितना कम करते हैं, उसके बारे में बात उतनी ही ज्यादा करते हैं।`

आप फ़रमाते हैं :—

व्यंग्यचित्र : लक्ष्मण

तुम आज का अखबार पढ़ रहे हो—यह कल का है और यह बरसों का।

7–15 दिसंबर '75

अध्याय - ३

आपातकाल और धर्मयुग

{१} आपातकाल में धर्मयुग : भूमि और भूमिका
{२} आपातकाल और हिंदी के पत्रकार

(क) आपातकाल में धर्मयुग : भूमि और भूमिका

धर्मयुग अपने समय की सर्वाधिक प्रसार संख्या रखने वाली तथा चर्चित पत्रिका रही है । आपातकाल के दौरान भी यह अपना प्रसार सर्वाधिक बनाए रखने में कामयाब रही । यह एक रंगीन पत्रिका थी जिसमें राजनीति और जासूसी से लेकर साहित्य, खेल तथा बुनाई-कढ़ाई पर सामग्री होती थी । इसका आकार भी अच्छा खासा बड़ा था - 32 23 से.मी. । `प्रेस इन इंडिया` के अनुसार यह `समाचार और समसामयिक घटना चक्र ` की पत्रिका है । लेकिन यह श्रेणी संभवत: इस पत्रिका के लिए उपयुक्त नहीं है । टाइम्स समूह की ही `दिनमान` पत्रिका इस श्रेणी में आती है । हिंदी पत्रिकाओं - लेखकों - समाचार पत्रों का अपेक्षित स्थान / वर्ग / श्रेणी में न पाया जाना इस देश के लिए कोई नयी बात नहीं है ।

धर्मयुग में, साथ में दिनमान में भी समाचार के स्रोत व्यक्ति और खुद पत्रिका के स्तर पर थे । समाचार एजेंसियों के उल्लेख समाचार स्रोत के रूप में नहीं होते थे । धर्मयुग में तो इस तरह से कोई समाचार-चक्र दिया भी नहीं रहता था, जब तक कि कोई बड़ी घटना न हो जाए । हां, समाचार पृष्ठ से मिलता जुलता एक पेज रहता था - `आंखों देखी खबरें ` अर्थात् सचित्र समाचार । आपात्-काल के समय इसमें हर एक दो अंक के बाद इंदिरा गांधी, संजय गांधी तथा प्राय: विनोबा भावे की तस्वीरें दृष्टिगोचर होने लगीं ।

पत्रिका चरित्र मध्यवर्गीय था, यह इसकी कहानियों से भी पता चलता है । मध्यमवर्गीय पात्रों, मध्यमवर्गीय दुख, सुख और निराशाओं तथा महत्वाकांक्षाओं से सरोबार कहानियां हम यहां देख सकते हैं तथा कथाकारों में महिला कथाकार पुरुष कथाकारों से ज्यादा पीछे नहीं रहीं । यूं पत्रिका के मुखपृष्ठ पर छपे मोहनियों के चित्रों तथा वास्तविकताओं की मादक तस्वीरों से भी हम इसके मध्यवर्गीय रंग और तेवर को भांप सकते हैं ।

धर्मयुग के मुखपृष्ठ पर कभी कोई बेचैन या कठिन या कहें कि वास्तविक चित्र नहीं छपा । वास्तविकताओं को छिपाने वाले तथा उन्हें भोग्य बनाकर बेचनेवाले चित्र ही यहां स्थान पाते रहे । आपातकाल के समय तो राजनीति परक विषय या व्यक्ति भी कभी इसके मुख पृष्ठ पर नहीं रहे । हालांकि अंदर के लेखों में कुछ लेख, चुटकुले, कविताएं अप्रत्यक्ष रूप से आपात काल कालीन व्यवस्था के विरोध में हम यहां देख सकते हैं । पर यहां भी यह विरोध प्राय: कुछेक व्यक्ति विशेष द्वारा तक ही सिमट कर रह गया । कुल मिलाकर यह कि धर्मयुग पहले भी `समाचार तथा सम्सामयिक घटना चक्र `, राजनीति आदि की पत्रिका नहीं थी तथा आपातकाल के समय तो यह प्राय: साहित्य तथा संस्कृति चर्चा और शौर्य गान तक ही सिमट कर रह गई । व्यंग्यात्मक लेखन और कल्पना की पहले जैसी उड़ान और धार भी लगभग नदारद ही रही । लेखन संस्तुति और आत्मतुष्टि परक हो गया । देश की महानता के प्रति एवं हिन्दी भाषा की सेवा और गुणगान में पन्ने भरे जाने लगे ।

धर्मयुग पत्रिका का स्वभाव हम एक नजर इसके शीर्ष कथ्यों पर डाल कर पता लगा सकते हैं --

धर्मयुग (फागुन अंक) 16 मार्च, 1975

+ मुख्य पृष्ठ पर एक लेटी हुई महिला की तस्वीर
+ पृष्ठ 2 एवं 3 पर विज्ञापन
+ पृष्ठ 4 एवं 5 एवं 23 पर `मधु-माधव पुन: पुन:` लेखक कुबेरनाथ राय
+ पृष्ठ 6 पर एक लड़की की फोटो व एक कोने में जगदीश गुप्त की कविता ।
+ पृष्ठ 7 - 12 और 26 - 29 पर मालती जोशी की एक लम्बी कहानी - ज्वालामुखी के गर्भ में ।
+ पृष्ठ 13 - विज्ञापन
+ पृष्ठ 15 एवं 21 सूफी `तोराब` और फाग प्रतीक - डा० रहमत उल्लाह

+ पृष्ठ 16 एवं 17 इलाहाबाद गुरु माहात्म्य - डा० सुरेश व्रत राय ।

+ पृष्ठ 18, 19, 20 एवं 21 फागुन में नाचते हुए फाबुआ के भील - श्याम व्यास ।

+ पृष्ठ 22 विज्ञापन

+ पृष्ठ 23 - मालवा का टेपा सम्मेलन, लेखक डा० शिव शर्मा / रफ्ट

+ पृष्ठ 24 एवं 25 पर `मजे बनारस की ठण्डाई के `, लेखक बुद्धिनाथ मिश्र, सूर्यभानु गुप्त तथा सुमन जी ।

+ पृष्ठ30 एवं 31 पर `पूरा चांद, होली की आग और हेव्बार`, लेखक धर्मवीर भारती

+ पृष्ठ 32 पर `विश्व हिंदी सम्मेलन के लतीफे : कुछ झूठे, कुछ सच्चे तथा एक व्यंग्य` । व्यंग्य-कार्टून में यथास्थिति नामक महिला क्रांति को माला पहना रही है ।

+ एक दोहा भी क्रांतिकारियों पर व्यंग्य करते हुए इसी पृष्ठ पर दिया गया है -

`पांव क्रीमटिन में घुसे, `पद` लीन्यो हथियाय : -
`क्रांति` वधू अवलोकियत, मनमन में मुसकाय ।`

+ पृष्ठ 33 पर महिला जगत `गुझिया तेरे कितने रूप` लेखक शेफाली घोष।

+ पृष्ठ 34 एवं 35 पर `जवाबी परिचर्चा ` के अंतर्गत `पति के अतिरिक्त पुरुष मित्र` ।

+ पृष्ठ 36 एवं 37 पर `फिल्म संसार` के अंतर्गत किशोर कुमार से बातचीत ।

+ पृष्ठ 38 पर `केवल अंग्रेजी अखबार ही हिंदी-विरोधी हैं क्या ?` लेखक सत्यदेव नारायण ।

+ पृष्ठ 39 पर `साप्ताहिक भविष्य` और विज्ञापन

+ पृष्ठ 40 एवं 41 पर `विज्ञापन`

+ पृष्ठ 42 एवं 43 पर `बाल जगत` के अंतर्गत

(अ) एक पिचकारी टेसू की ।

(ब) गोरे साहब भी जब होली मनाया करते थे ।

(स) कठफोड़वा / ढब्बूजी / कविता / लोक गाथा

+ पृष्ठ 45 से 49 पर `विज्ञापन`

आपातकाल के पूर्व धर्मयुग पत्रिका का उपरोक्त स्वरूप था । आपातकाल के समय इसका अधोलिखित स्वरूप था, जो एक समान पूरे समय नहीं रहा, कभी लेखों की भरमार हो गई, तो कभी साहित्य की । लेकिन राजनैतिक विषयों से साफ तौर पर बचा गया । सामाजिक लेखों को भी हम ज्यादा नहीं पाते हैं । हां, कुछ व्यक्ति विशेष जैसे गणेश मंत्री, सुरेंद्र प्रताप सिंह (जिसमें निश्चित रूप से संपादक की सहमति रही होगी) ने ऐसे सामाजिक-अर्धराजनीतिक विषय अवश्य चुने हैं जिनमें हम लोकतंत्र का समर्थन और आपातकाल के विरोध की अनुगूंज साफ सुन सकते हैं ।

उदाहरण के लिए 28 दिसम्बर 1975 के अंक में एक भी सामाजिक, राजनैतिक लेख नहीं है । कहानियां पांच हैं --

(1) यह तीसरा - दीप्ति खण्डेलवाल

(2) अलग अलग कमरे - मृदुला गर्ग

(3) कैंसर - मृणाल पाण्डेय

(4) शायद हां, शायद नहीं - निरुपमा सोबती

(5) पाषाण युग - मालती जोशी

लगभग आधे से ज्यादा पृष्ठ इससे घिर गये हैं । बाकी बचे पेजों में ये लेख हैं --(1) असाधारण व्यक्तित्व शरतचंद्र - अजय मिश्र, (2) समीक्षा : आवारा मसीहा, (3) अन्य स्थायी स्तंभ जैसे महिला जगत, बाल जगत आदि तथा (4) विज्ञापन (लगभग दस पृष्ठ) ।

जबकि अगले ही अंक में छह लेख हैं, और सिर्फ एक कहानी है --

(1) दक्षिण ध्रुव में भारतीय वैज्ञानिक : परमजीत सिंह सेहरा

(2) यूरोप साम्यवादियों के बदलते समीकरण : गणेश मंत्री

(3) सामाजिक संघर्ष में साहित्यकार की भूमिका : वीरेंद्र जैन ।
(इस लेख में शब्दों का ध्यान देने योग्य उलझाव है, और स्वतंत्रता शब्द का कहीं भी सार्थक प्रयोग नहीं है)

(4) एक बेचैन कलाकार - हरी महीधर और नये छाया प्रयोग

(5) इलाचन्द्र जोशी के संस्मरण - हिमालय की छाया में बीता बचपन ।

(6) महिला हाकी में भारत कहां ।

पर पंद्रह अगस्त 1976 (स्वाधीनता विशेषांक) में लेखों की मात्रा और स्वरूप-स्वभाव इस सब से बहुत फर्क है - (इसमें पृष्ठ भी 67 हैं, जबकि सामान्यतया पत्रिका में 50 पृष्ठ होते थे)

(1) सुरेंद्र प्रताप सिंह - नवउपनिवेशवादी अमीर देश : नवस्वतंत्र गरीब देश

(2) राजन गांधी - गरीब देशों की समस्याएं : अमीर देशों के नुस्खे

(3) विश्वनाथ - प्रतिभा पलायन का राजनीतिक अर्थतंत्र

(4) गणेश मंत्री - विसंस्कृतीकरण का बढ़ता खतरा

(5) व. पु. काले - माया बाजार (हास्य कथा)

(6) सत्येंद्र श्रीवास्तव - मिसेज जोंस और उनकी अभी तक बची रह गयी गली (काव्य रिपोर्ताज)

(7) राममोहन पाठक - क्या हिप्पी आंदोलन अस्त हो रहा है ?

(8) सत्यदेव दुबे - अस्वस्थ सेक्स और हिंसा का बायकाट ।

(9) शंकरराव चह्वाण - भूमिहीनों के लिए भूमि

(10) सुमित्रा कुलकर्णी - 15 अगस्त : जिसके साथ महादेव भाई की स्मृतियां जुड़ी हैं (संस्मरण)

(11) डा० विनय - जव्तशुदा नज्में (नयी पुस्तकें)

(12) राधाकृष्ण - जब वे कर्फ्यू देखने गये (व्यंग्य)

(13) एच. एम. जोशी - विकासशील देश में पुलिस की बदलती भूमिका ।

(14) कमला रत्नम् - इंदिरा जी : यत्र विश्वम् भवति एक नीडम्

(15) डा० मोतीलाल भार्गव - नाना साहब : अंग्रेज जिन्हें ताउम्र बंदी नहीं बना सके (रोमांचक इतिहास)

(16) के. एस. एस. शेषन - दक्षिण का शांति निकेतन : जहां गुरुदेव के जन गण मन की धुन बनायी गयी ।

(17) राजेंद्र अवस्थी - ओस्लो से बूदो तक (सैलानी की डायरी)

(18) रवींद्र श्रीवास्तव - लला लैला : अंदाज-ए-गायकी और है (फिल्म संसार)

कहानियां

(19) बलराम - शिक्षा-काल

(20) इस्मत चुगताई - चारपाई

गीत-कविताएं

27 / 29 / 33 / 61 पृष्ठ पर क्रमश: दिविक रमेश, गुलाब सिंह, सूर्यभानु गुप्त, सिकंदर अली वज्द

इसके अतिरिक्त

अशोक प्रभाकर मोटे - पेमाकोमा की बहादुरी (बाल कहानी)

आरसी प्रसाद सिंह - सच होने वाला है सपना (बाल कविता)

तथा

\+ रंग और व्यंग्य + पहेली + साप्ताहिक भविष्य

परंतु अगर `धर्मयुग` की तुलना `दिनमान` से करें तो हम ज्यादा स्पष्ट रूप से `धमयुग` का स्वभाव और उसमें आये बदलाव को समझ सकते हैं --

दिनमान, 23 फरवरी 1975 में,

मत सम्मत + कार्टून - पृष्ठ 3 एवं 4

पत्रकार संसद + किताबें - पृष्ठ 5

(यहां समीक्षार्थ जो किताबें चुनी गईं उनमें हैं - इण्डियन स्टेटिक पावर स्ट्रक्चर' और 'इण्डिया इन क्राइसिस' । दोनों पुस्तकें जयदेव सेठी की हैं ।)

कानून - किरायेदारी और जिला अदालतें

संस्कृति - देश की झांकी

शिक्षा - इन्हें पढ़ाओ

चरचे और चरखे - 'विश्वविद्यालय में पतंग उड़ाओ' तथा 'मान न मान मैं तेरा फरमान'

धूमिल के निधन पर - 'पत्नियों की चीख के बावजूद', पृष्ठ 11 एवं 12 पर

दायरा बंद जिंदगी - पृष्ठ 23 एवं 24

संपादकीय - राष्ट्रपति का अभिभाषण

राष्ट्र - 'प्रतिपक्ष' के अंतर्गत (1) कांग्रेस के विरुद्ध नयी रणनीति । 'कांग्रेस' के अंतर्गत (1) नाईक की विदाई और अन्य कहानियां । 'जामा मस्जिद' के अंतर्गत (1) सही व्यवहार का आश्वासन ।

प्रदेश - (बिहार) सब चालू है (गुजरात) समय की प्रतीक्षा । (तमिलनाडु) नये गठजोड़ । (मध्य प्रदेश) खेसरी दाल : हम विषपायी जन्म के । राजस्थान बनाम नयी दिल्ली । (युवा मंच) पढ़ाई और कमाई ।

नारी जगत - हमारी परवाह किसको

समाचार भूमि - मलागासी : हिंद महासागर का अशांत द्वीप, पृष्ठ 29 से 30 तक ।

विश्व - पृष्ठ 30 से 34 तक

दुनिया भर की - (1) प्रेस की स्वतंत्रता को खतरा, (2) सैनिक चिकित्सकों को नया काम ।

खेल खिलाड़ी - पृष्ठ 36 से 38

विज्ञान - श्वांस नली के रोग, पृष्ठ 39

साहित्य - सिंधी साहित्य सम्मेलन : लिपि का अनुवाद, पृष्ठ 40

रंगमंच - संवादहीन संवाद, पृष्ठ 41

कला - अलग तरह का स्वाद, पृष्ठ 43

फिल्म - बतौलूची की योजना

दिनमान 10 अगस्त 1975 में,

मत सम्मत और कार्टून (पृष्ठ 3 एवं 4)

(आर. के. लक्ष्मण के इस कार्टून में एक आफिस में इतनी उपस्थिति दिखाई गयी है कि लोगों के लिए वह जगह कम पड़ गई है, नीचे लिखा हुआ है - 'हमें अब दफ्तर के लिए बड़ी जगह चाहिए, यदि हर आदमी हर रोज समय से आने लगा तो इतनी जगह कम होगी ।)

पत्रकार संसद - पृष्ठ 5

कला संवाद - अधूरी परिकल्पना, पृष्ठ 6

विज्ञान - अशांत ब्रह्माण्ड की झलक, पृष्ठ 7

नस्ल सुधार - प्यारे बच्चे खुट खुट करते, पृष्ठ 8 - 9

चरखे और चरखे - पृष्ठ 10

बनवासी - राजा से रंक, भाग 5, पृष्ठ 11, लेखक - जगदीश चंद्र दीक्षित, संसद सदस्य

ऊर्जा - संकल्प और सिद्धियां, साक्षात्कार, प्रो. सिद्धेश्वर, केंद्रीय ऊर्जा उपमंत्री, पृष्ठ 12, 13, 14

राष्ट्र - प्रधानमंत्री का अभिवक्तव्य, आपात स्थिति जरूरत भर रहेगी, पृष्ठ 15

संविधान - निर्विवाद अधिकार, अनुच्छेद 352, 354, 360, पृष्ठ 16-17 पर ।

विदेश नीति - हिंद महासागर

अर्थ व्यवस्था - आत्मविश्वास की दिशा में

अर्थजगत - एकाग्रता और संकल्प की कमाई

प्रदेश - पंजाब : ज्ञानी आयोग की रपट

सुधार : स्वच्छ प्रशासन के लिए

बंधुआ मजदूरी : जीवन भर के दुख से मुक्ति - 1

गोबर गैस : आम स्वावलंबन की दिशा

उपग्रह - हजार आंखें, पृष्ठ 28

समाचार भूमि - वयूबा : ग्यारह बरस बाद, पृष्ठ 29-30

विश्व - लातीनी अमेरिकी सम्मेलन

- हेलसिंकी सम्मेलन

अफ्रीकी एकता संगठन - एकता में अनेकता

नाइजीरिया - रक्तहीन क्रांति

तुर्की-अमेरिका - सैनिक गुटबंदियों के गिरते महल

दुनिया भर की - सेनाधिकारी की वापसी

- चोटी के पद पर

- 25 पाउंड प्रति सप्ताह

- खून का धंका

खेल और खिलाड़ी - फुटबाल, हाकी एवं शतरंज

नारी जगत - मारिया बारेनो ने कहा (इसका मूल कथ्य है कि `पुर्तगाल की तीन स्त्रियां फासी सरकार द्वारा स्त्रियों के पक्ष में बोलने पर बंदी`) ।

किताबें - सांस्कृतिक नीति की खोज, पृ0 40-41

कला - मक्स अर्नस्टकी दुनिया, पृष्ठ 44

फिल्म - `द ब्रिज आन द रीवर क्वाइ` ।

हम बहुत ही सहजता से यहां आपात काल के पूर्व और आपात काल के समय के `दिनमान` के कथ्य और स्वभाव में अंतर दर्ज कर सकते हैं । किसी भी पत्र या पत्रिका की राय उसके संपादकीय में व्यक्त होती है, इसलिए सबसे ज्यादा अंतर हम यहीं पाते हैं । 10 अगस्त 1975 के अंक में तो हम देख चुके हैं कि संपादकीय ही नहीं दिया गया है ।

पर 29 जून, 1975 (आपातकाल के पूर्व) और 6 जुलाई 1975 (आपातकाल के समय) के संपादकीय में साफ भिन्नता नजर आती है । 29 तारीख को विषय था - `कानून और राजनीति`, जबकि 6 जून को यह `दास प्रथा से काले धन तक` है । राजनीति पूर्णत: नेपथ्य में चली गई है, अप्रासंगिक विषय संपादकीय के विषय बनना प्रारंभ हो गए । `धर्मयुग` के संदर्भ में हमारे पास यह मानक भी नहीं है क्योंकि `धर्मयुग` में संपादकीय होते ही नहीं थे।

धर्मयुग में भी आपातकाल के पूर्व राजनीतिक विषयों पर चर्चा हुई है, जैसा कि इसके मुख पृष्ठ शीर्षकों से ज्ञात होता है । आगे हम विस्तार से कुछ लेखों का विश्लेषण करके देखेंगे कि आपातकाल के समय भी अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक लेख लिखे गए । कुछ आपात काल और लोकतंत्र के समर्थन में भी, और कुछ में उनके विरोध का स्वर भी बहुत सांद्र है ।

पहले मुख्य पृष्ठ के कथ्य पर एक दृष्टि डालते हुए आपात काल के पूर्व और आपात काल में इसके स्वभाव में प्रथमत: परिवर्तन को यहां दर्ज किया गया है ।

+ 5 फरवरी 1975 के `धर्मयुग` के मुख पृष्ठ पर है - दिल्ली में पांचवां अन्तरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव

+ 12 जनवरी 1975 को - विश्व हिंदी सम्मेलन

+ 19 जनवरी 1975 - (1) भारत वेस्ट इण्डीज शृंखला
(2) हिंद महासागर : नया तूफान
(3) क्या हम भी हार को जीत सकते थे

+ 26 जनवरी 1975 को - गणतंत्र दिवस अंक (इसके मुख पृष्ठ पर एक बच्चा प्रतीकात्मक ट्रेन के ऊपर बैठा हुआ है, अपना सिर ठोंक रहा है, ट्रेन के दोनों तरफ झण्डे फहराये हुए हैं, जो भारत के नहीं हैं ।)

+ 2 फरवरी 1975 को - (1) विस्फोटक रिपोर्ट - बलूचिस्तान : विद्रोह या गृह युद्ध
(2) सी. आई . ए.

+ 9 फरवरी 1975 - बड़े शहरों का प्रसार : बढ़ता मानसिक तनाव

+ 16 फरवरी 1975 - (1) वसंत पंचमी
(2) आपके सपने भारतीय प्रयोगशाला में

+ 23 फरवरी 1975 - नेपाल पर विशेष (चित्र में नेपाल नरेश श्री वीरेंद्र वीर विक्रमशाह देव एवं महारानी ऐश्वर्या राजलक्ष्मी ।

+ 2 मार्च 1975 - (1) निष्पक्ष होकर मत दें
(2) `प्रजातंत्र बचाओ` तथा `चुनाव से काला धन हटाओ`

+ 9 मार्च 1975 - शिवरात्रि - क्या उत्तर के मंदिरों का ट्रस्टीकरण होना चाहिए ।

+ 16 मार्च 1975 - (1) फागुन अंक

+ 30 मार्च 1975 - (1) यू. पी. की रामकहानी

+ 6 अप्रैल 1975 - (1) बोकारो : जहां इस्पात ढलता है ।
(2) आर्य समाज के सौ साल पूरे हुए ।

+ 13 अप्रैल 1975 - (1) दक्षिण पंथी कम्युनिस्ट : साठ गांठ या साम्यवाद ।

+ 20 अप्रैल 1975 - (1) रामनवमी
(2) जानकी की तलाश

+ 4 मई 1975 - (1) महाराष्ट्र का मन
(2) मई दिवस : मजदूर दिवस

+ 11 मई 1975 - (1) बस्तर : जीवन सौन्दर्य का सहज स्तर

(इस अंक में युवा तुर्क अर्थात् कृष्ण कांत, मोहन धारिया, चंद्रशेखर के साक्षात्कार हैं जिनमें इन नेताओं ने काफी विचारोत्तेजक वक्तव्य दिए हैं। कृष्णकांत ने कहा `आज केवल गांधी ही प्रामाणिक साबित हो रहे हैं।` मोहन धारिया का कहना है `आप युवकों और गरीबों को प्रतिक्रियावादी नहीं कह सकते।` और चंद्रशेखर की राय थी, `जे. पी` के पास नैतिक शक्ति है, इंदिरा के पास राजनीतिक शक्ति। दोनों का समन्वय आवश्यक है।`)

+ 18 मई 1975 - (1) पाकिस्तान को हथियार : क्या लड़ाई फिर होगी ?
(2) त्रिनाले

+ 25 मई 1975 - (1) आम - कितने स्वाद कितने नाम
(2) सिक्किम का विलय

+ 1 जून 1975 - (1) दहेज प्रथा कब तक

+ 15 जून 1975 - (1) (क्या) भगीरथ गंगा लाये थे

+ 21 जून 1975 - (1) मुकदमा ; फैसला और अब ?
(2) सोना आये कहां से ; सोना जाये कहां रे ?

+ 13 जुलाई, 1975 - (1) सर्कस के उखड़ते खेमे

+ 20 जुलाई 1975 - (1) मलेशिया में मुक्केबाजी : विजेता मोहम्मद अली।

+ 27 जुलाई 1975 - (1) अतीत और भविष्य के बीच अरब दुनिया।

यहां हम आपातकाल के बाद अर्थात् 21 जून 1975 के अंक के बाद स्पष्ट तौर पर दर्ज कर सकते हैं कि राजनीतिक, सामाजिक विषय मुख्य पृष्ठ से एकदम नदारा हो गए हैं। नितांत हाशिए के और अप्रासंगिक विषय शीर्ष स्थान पर आसीन हैं।

+	3 अगस्त 1975 -	भारतीय नारी : कितनी स्वतंत्र, कितनी गुलाम ।
+	10 अगस्त 1975 -	समांतर फिल्में : क्यों और किनके लिए ।
+	17 अगस्त 1975 -	गांव शहर चले, शहर उमड़ पड़े
+	24 अगस्त 1975 -	सवाल आपकी तनख्वाह का
+	7 सितम्बर 1975 -	आपकी रेल यात्रा शुभ हो
+	14 सितम्बर 1975 -	हिंदी देश में, हिंदी विदेश में
+	21 सितम्बर 1975 -	(1) संसद का सेंट्रल हाल बोल उठा (2) प्राहा में छोटा भारत (3) जब सूरज आलू भूनेगा (4) आलीशान इमारतों में काले धन की खोज ।
+	28 सितम्बर 1975 -	(1) कान्हा में बाघ और बारहसिंगों के बीच
+	5 अक्तूबर 1975 -	(1) हिंदी के एक और हृदय-दीप फिजी (2) कवि सम्मेलन : वाह-वाह या बोर-बोर
+	12 अक्तूबर 1975 -	विजयदशमी विशेषांक
+	19 अक्तूबर 1975 -	(1) मछुआ गांव डाक : जहां भारतीय जहाज बनते हैं । (2) पटना की बाढ़
+	26 अक्तूबर 1975 -	(1) सरदार पटेल जन्म शताब्दी (2) चढ़ती उम्र के बांटे ; कितने फूल, कितने कांटे ।
+	16 नवम्बर 1975 -	(1) बाल दिवस (2) नेहरू और इंदिरा पर विशेष
+	23 नवम्बर 1975 -	(1) बड़े-बूढ़ों का मानसिक संसार

+ 30 नवम्बर 1975 - (1) अब स्वतंत्र हो रहा है एक और हिंदी धाम : सूरीनाम

+ 7 - 13 दिसम्बर 1975 - (1) भारतीय पनडुब्बी : तरता तिलिस्म

(2) नौसेना दिवस के अवसर पर

+ 21 - 27 दिसम्बर 1975 - (1) लोकप्रिय फिल्म नायक : इतिहास और विश्लेषण

+ `धर्मयुग` 4 जनवरी 1976 - (1) रोमांचक : दक्षिण ध्रुव में भारतीय वैज्ञानिक

+ 11 जनवरी 1976 - (1) काले हीरे के कामगार

+ 24 जनवरी, 1976 - (1) भारतीय क्रिकेट दल विदेश के दौरे पर

+ 31 जनवरी 1976 - (1) गणतंत्र विशेषांक

+ 7 फरवरी, 1976 - (1) वसंत पंचमी

+ 8 - 14 फरवरी, 1976 - धूम मची कव्वालों की

+ 15 - 21 फरवरी 1976 - रोमांचक विशेषांक

(इस अंक की मुख्य स्टोरी हैं (1) लता न भूतो न भविष्यति (2) चे और टी की प्रेम कहानी (3) मृत्यु त्यौहार के रहस्यमय देश में (4) ताश रे ताश । तेरे कितने रूप (5) क्या यहां अश्वत्थामा पूजा करने आता है ? (6) एवरेस्ट पर परचम)

+ 28 फरवरी 1976 - ज्ञानपीठ पुरस्कार दशक

+ 29 फरवरी 1976 - बढ़ते तलाक

+ 7-13 मार्च 1976 - सौंदर्य प्रतियोगिता

+ 14-20 मार्च 1976 - होली विशेषांक

+ 21-27 मार्च 1976 - मेंहदी रतन कटोरावाली

+ 28 मार्च - 3 अप्रैल 1976 - पागल ? नहीं, केवल मानसिक रोगी
+ 4-10 अप्रैल 1976 - रामायण दक्षिण पूर्व एशिया में
+ 18-24 अप्रैल 1976 - मांट्रियल : 21 वें ओलंपिक की तैयारियां

टिप्पणी - इस अंक में `उदयगिरि : हमारा एक नया स्वदेशी युद्धपोत` नाम से एक स्टोरी है । हम यह कह सकते हैं कि देश की शान के समर्थक इस तरह की असामाजिक-अराजनीतिक रिपोर्ट या स्टोरी (जैसे हिंदी भाषा के प्रचार प्रसार से सम्बन्धित आत्मतुष्टिकरण लेख, या `एवरेस्ट पर परचम`) इस समय की `धर्मयुग` की पत्रकारिता का एक मुख्य स्वर रहा ।

+ 25 अप्रैल से 1 मई 1976 - तराई : एक `मिनी` हिंदुस्तान
+ 2 - 8 मई 1976 - युवा मानस : तनाव कैसे दूर हो ?
+ 9 - 15 मई 1976 - गदर के बाद नाना साहब कहां रहे ?
+ 16 - 22 मई 1976 - कारागार का संसार
+ 23 - 29 मई 1976 - विवाह-समारोह : फिजूलखर्चियों का मोह
+ 30 मई - 5 जून 1976 - क्या सती प्रथा फिर लौट रही है ?
+ 6 से 12 जून 1976 - यात्रा गंगोत्री से गोमुख तक
+ 13 से 19 जून 1976 - मारिशस विशेषांक
+ 20 से 26 जून 1976 - प्रताप अंक, हल्दी घाटी युद्ध, चार सौ वीं जयंती । इस अंक में लगभग पंद्रह पेज `हल्दी घाटी` को दिए गए हैं ।
+ 11 से 17 जुलाई 1976 - फूलने लगी होगी, फूलों की घाटियां
+ 1 से 7 अगस्त 1976 - रमते रोमा भारत लौटे
+ 15 अगस्त 1976 - स्वाधीनता दिवस विशेषांक
+ 22 अगस्त 1976 - इस वर्ष का वह खौफनाक तूफान
+ 5-11 सितंबर 1976 - (1) जयपुर में खोज सजाने की
(2) मांट्रियल ओलंपिक

+ 12 से 18 सितंबर 1976 - (1) जयगढ़ में खोज खजाने की
(2) चढ़ते क्वार का चित्र त्यौहार - साफी

+ 19 से 25 सितंबर 1976 - (1) मुकदमेबाजी

+ 26 सितंबर से 2 अक्तूबर 1976 - रामनगर की रामलीला

+ 2 से 8 जनवरी 1977 - (1) माओ के बाद चीन में क्या हो रहा है ?

+ 9 जनवरी 1977 - (1) कुंभ प्रयाग का

+ 16-22 जनवरी 1977 - (1) तेरे द्वार खड़ा एक जोगी
(2) वसंत मकर संक्रांति

+ 23 से 29 जनवरी 1977 - (1) भारत माता का मंदिर
(2) इंदिरा जी अफ्रीका में
(3) पूर्व उत्तर प्रदेश : बाढ़ें कब तक
(4) आयकर के छापे
(5) हमारी धरोहर वापिस करो

+ 30 जनवरी - 5 फरवरी 1977 - फिल्मों में हिंदी गीत : कितने हिन्दी, कितने फिल्मी

+ 6 से 12 फरवरी 1977 - (1) माडलिंग का नया धंधा
(2) युद्धपोत चलाने से युद्धपोत बनाने तक

टिप्पणी - उल्लेखनीय है कि इस अंक में मार्च 1977 में चुनाव की घोषणा की सूचना है । लेकिन इसे मुखपृष्ठ पर नहीं लिया गया है ।

+ धर्मयुग 13-19 फरवरी 1977 - (1) मुख्य चुनाव आयुक्त से धर्मयुग की विशेष भेंट ।
(2) महाशिवरात्रि
(3) लंका : कुछ यात्राएं

+ 20 से 26 फरवरी 1977 - (1) मंदिर में मनश्चिकित्सा
(2) घड़ियाल का घोंसला

+	27 फरवरी 1977 -	(1) क्रिकेट : बंबई टेस्ट पर
		(2) चमत्कार : विज्ञान की कसौटी पर
+	7 से 12 मार्च 1977 -	(1) होली विशेषांक
+	12 से 18 मार्च 1977 -	(1) मोटापा : कुछ मोटी मोटी बातें
		(2) इस अंक में `आंखों देखी खबरों` के

के पृष्ठ पर इंदिरा गांधी और जयप्रकाश के चुनाव अभियान की भी झलकियों के चित्र भी दिए गए हैं ।

+ धर्मयुग 20 - 26 मार्च 1977 - (1) टेस्ट क्रिकेट के सौ साल

मार्च में लोकसभा के आम चुनाव हुए तथा चुनाव की घोषणा के साथ ही आपातकालीन प्रतिबन्धों में छूट दे दी गयी थी । आपातकाल की इस अवधि के दौरान हम `धर्मयुग` को प्राय: आपातकाल से उदासीन सा पाते हैं । लेकिन हम मुख्य पृष्ठ शीर्षकों में यह देख चुके हैं कि `धर्मयुग` जैसी गैर राजनीतिक और गैर समसामाचारिक पत्रिका पर भी दबाव थे । यहअप्रभावित नहीं थी । पत्रिका के अंदर भी हम आपातकाल के दबाव को तथा आपातकाल का विरोध अर्थात् लोकतंत्र और स्वतंत्रता का समर्थन देख सकते हैं ।

धर्मयुग आपातकाल के समर्थन में

किसी भी व्यक्ति या विचार का समर्थन दो तरीके से किया जा सकता है । प्रथम मौन रहकर अर्थात् विरोध में न बोल कर । दूसरे, उस विचार या व्यक्ति के समर्थन में अथवा उस विचार से मिलती जुलती मूल्य-सारणी के पक्ष में बोलकर । धर्मयुग में हमें आपातकाल का मौन रूप में समर्थन मिलता है, साथ ही कुछ लेखों में सरकार की आपातकालीन नीतियों की प्रशंसा देख सकते हैं । कांग्रेस के नेताओं और इंदिरा गांधी की व्यक्ति रूप में आशंसा को भी आपातकालीन दबाव की अभिव्यक्ति का एक रूप मान सकते हैं । इसके अतिरिक्त हम आपातकाल का समर्थन

यहां आपातकालीन विचार-पद्धति और मूल्य-सारणी से साम्य रखते हुए मूल्यों के समर्थन में भी देख सकते हैं । समर्थन का एक और तरीका है - दोमुंहापन और अस्पष्टता, जो यहां अथवा सर्वत्र और सर्वकालीन सत्य है, धर्मयुग में भी देख सकते हैं । कार्टूनिस्ट आर. के. लक्ष्मण ने 29 जून 75 के `दिनमान` में इस को बहुत अच्छी तरह चित्रित किया है -

आपातकालीन पत्रकारिता की पूरी अवधि में सिर्फ एक बार मजदूर की तस्वीर मुखपृष्ठ पर नजर आई है । 11 जनवरी 1976 के अंक में मुख्य स्टोरी है `काले हीरे के कामगार` । साथ में पुरुष और महिला कोयला मजदूर की तस्वीर भी दी गई है ।

पंकज प्रसून के इस लेख का उद्देश्य है सरकार के कोयले के राष्ट्रीयकरण की नीतियों का समर्थन । जिसका मूल कथ्य है --

'भारतीय कोयला मजदूरों ने कितनी यातनाएं झेलीं । पर जब से कोयला का राष्ट्रीकरण हुआ है, ये कितनी निष्ठा से अपने कर्त्तव्यों का पालन कर रहे हैं । कोयले का इतिहास, पुरातत्व और खदानों की ज़िंदगी का एक पूरा ब्यौरा ।'

29 फरवरी 1976 के अंक में वसंत कुमार तिवारी ने 'श्यामाचरण शुक्ल : संवेदनशील मुख्यमंत्री' नाम से मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री का गौरवपूर्ण परिचय तथा साक्षात्कार प्रस्तुत किया है । श्यामाचरण शुक्ल ने इस साक्षात्कार में कहा है, 'आज देश के पास कांग्रेस तथा इंदिरा गांधी के अलावा कोई विकल्प-नहीं है ।' यूं नेताओं के परिचय, बड़े सरकारी अधिकारियों के यथा सेना अध्यक्षों आदि के गौरवपूर्ण परिचय उस समय की पत्रकारिता में एक धारा रही ।

'धर्मयुग' 4 जनवरी 1976 के अंक में पृष्ठ 13 पर 'आंखों देखी खबरें' में जयप्रकाश नारायण की तस्वीर है, उसके नीचे लिखा है 'सर्वोदय नेता श्री जयप्रकाश नारायण के स्वास्थ्य में पिछले दिनों काफी सुधार हुआ है । 22 नवम्बर से 23 दिसम्बर तक वे बम्बई के जसलोक अस्पताल में चिकित्सार्थ रहे । 25 नवम्बर को कृत्रिम वृक्क की सहायता दी गयी । अब वे बम्बई में अपने छोटे भाई के यहां स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं । 14 दिसम्बर तक उन्हें 8 बार यह सहायता दी गयी । चित्र : अस्पताल की बाल्कनी में आराम करते हुए जयप्रकाश जी ।'

जयप्रकाश नारायण ने इंदिरा गांधी की सरकार के खिलाफ आंदोलन का नेतृत्व किया था । आपातकाल में वे सबसे प्रारंभ में हिरासत में लिए जाने वाले विरोधी नेताओं में एक थे । जनता का उनको अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त था, वे महात्मा गांधी की तरह नैतिक मूल्यों का प्रतीक बन गए थे । हिरासत में उन का स्वास्थ्य तेजी से गिरा । लेकिन इसको 'धर्मयुग' और समाचार पत्रों में प्रकाशन पर पाबंदी थी । फिर भी जनता में यह अफवाह फैल चुकी थी । इसीलिए जनता को तुष्ट करने हेतु जयप्रकाश नारायण के स्वास्थ्य लाभ की सूचना यहां दी गई है ।

इसी पृष्ठ पर एक और तस्वीर है, जो सरकार की मध्यमवर्गीय नैतिकता और कर्मठता का साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए दी गई है । क्योंकि वह तस्वीर प्रामाणिक नहीं हो पाती है । तस्वीर के नीचे लिखा है - शराबबंदी के खिलाफ अवैध शराब इधर से उधर ले जाने वालों के नायाब तरीके - टैक्सी ड्राइवर में बैठे चार कुष्ठ रोगियों की तलाशी ली गई, तो एक ऐसे ही तरीके का रहस्योद्घाटन हुआ । उन्होंने अपने पैरों में शराब से भरे गुब्बारे बांध रखे थे और ऊपर से कपड़े पहन लिये थे । यहां न तो दिनांक दी गई है, और न उस जगह का नाम जहाँ ये हुआ । और फिर शराब पैरों में गुब्बारे बांध कर ले जाना कुछ अव्यवहारिक तो लगता ही है ।

11 से 17 जनवरी, धर्मयुग के 'आंखों देखी खबरें' के पेज पर राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के अभिनंदन ग्रंथ का विमोचन करते हुए दिखाए गए हैं, तस्वीर के नीचे लिखा है : (1) राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने 19 दिसंबर को राष्ट्रपति भवन में इंदिरा गांधी अभिनंदन ग्रंथ (स्पिरिट आफ इण्डिया) का विमोचन किया । ग्रंथ का संपादन कांग्रेसी नेता श्री बी. एन. पाण्डेय ने किया था । रेल मंत्री श्री कमलापति त्रिपाठी अभिनंदन समिति के उपाध्यक्ष थे ।

एक और तस्वीर है जिसका विवरण इस प्रकार दिया गया है - 'आचार्य विनोबा भावे ने भूदान यज्ञ रजत जयंती के अवसर पर पवनार में 25 दिसंबर को अपना एक वर्ष का मौन व्रत भंग किया । उस अवसर पर विशेष रूप से आयोजित समारोह में विभिन्न भागों से लोग उपस्थित थे । आचार्य भावे ने स्वयं सेवकों से इस वर्ष दिसंबर तक भूमिहीनों और गरीबों में भूदान भूमि के वितरण का कार्य पूरा करने का अनुरोध किया ।' भावे और भीड़ दोनों का अलग अलग फोटो । उल्लेखनीय है कि आचार्य भावे ने आपातकाल को 'अनुशासन-पर्व' कह कर नवाजा था ।

21 से 31 जनवरी, 1976 का `धर्मयुग` अर्थात् गणतंत्र विशेषांक इस विश्लेषण की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है ।

इस विशेषांक में तृतीय पृष्ठ पर प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी तथा राष्ट्रपति को इस अवसर पर बधाई प्रेषित की गई है । जबकि गणतंत्र विशेषांक 1975 में इस तरह की कोई बधाई नहीं दी गई थी ।

इस विशेषांक में `स्वातंत्र्य` पर तीन-चार लेख हैं `हमारी विरासत` के बंद स्वभाव शीर्षक में ।

`हमारी विरासत : तिलक` के अंतर्गत `स्वातंत्र्य : जन्म सिद्ध अधिकार` पर लिखते हुए गंगाधर गाडगिल लिखते हैं -`स्वराज्य और स्वातंत्र्य` उपभाग में - तिलक की कल्पना के इस `सभी लोगों के स्वराज्य` का आधार व्यक्ति-स्वातंत्र्य था । एक जगह उन्होंने (तिलक) कहा है - हम जिसे राष्ट्र अथवा समाज कहते हैं, वह एक व्यक्ति न होकर अनेक व्यक्तियों का समूह है । उसमें प्रत्येक व्यक्ति जितना अधिक से अधिक स्वातंत्र्य भोग सकेगा, उतना ही अधिक समाज गुलामी से दूर बना रहेगा । पर किसी भी कारण से क्यों न हो, अगर व्यक्ति स्वातंत्र्य कम होने लगा तो यह कहना पड़ेगा कि उन व्यक्तियों से बना समाज गुलामी की लपेट में आने लगा है ।'

तत्कालीन अंग्रेजी शासन की धींगामस्ती को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कहा कि राज्य कानून का होना चाहिए, धींगामस्ती का नहीं । पर यह कानून जनता द्वारा अर्थात् जनतंत्रीय राज्य पद्धति द्वारा तैयार किया जाना चाहिए ।

उनका मत था कि अपना कोई भी आंदोलन कानून के घेरे में रहकर ही खड़ा किया जाना चाहिए । भारतीय जनता पर यह नैतिक बंधन लाद कर उन्होंने शांति-पूर्ण मार्गों द्वारा ही अपने आंदोलन खड़े किए । यह उनकी व्यावहारिकता थी । ~~उन्हें विश्वास था~~ । उन्हे विश्वास था कि सशस्त्र क्रांति अथवा अतिवादी मार्गों

द्वारा स्वराज्य नहीं मिल पायेगा, इसीलिए उन्होंने लोक जागृति का मार्ग अपनाया ।'

यहां हम अंतिम पहराग्राफ में साफ रूप से इंदिरा गांधी के तर्कों को सुन सकते हैं, जबकि हम यह जानते हैं कि तिलक कांग्रेस के उग्रपंथी गुट के नेता थे । और फिर अंतिम पहराग्राफ के लिए तिलक का 'मत' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

'हमारी विरासत : गांधी' के अंतर्गत तो. कृ. महादेवन लिखते हैं, 'स्वातंत्र्य : सत्य का आग्रह' नाम से । बढ़ता मशीनीकरण, घटती स्वतंत्रता' खण्ड में आप लिखते हैं --'गांधी ने यह भी देखा कि वरणकर्ता के रूप में स्वातंत्र्य सिर्फ एक आध्यात्मिक आवश्यकता नहीं है, वह एक महत्वपूर्ण आर्थिक घटक भी है । इसीलिए वे स्वयं को पूरी तरह समाजवादी नहीं बना पाये । इस लिए गांधी एक लोकतंत्रवादी भी नहीं थे । वे लोकतंत्र (पाश्चात्य प्रणाली के) को गहरी शंका की दृष्टि से देखते थे । उन्होंने इसे भीतर से देखा और देखा कि यह कितनी खोखली चीज है, जबकि हम इसे बाहर से देखते हैं और धोखा खाते हैं ; इसकी चमक और चातुर्य से मुग्ध रह जाते हैं । यह कितना बड़ा मजाक है कि विश्व को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित रखने के लिए इतने सारे युद्ध लड़े गए और लड़े जा रहे हैं । आज वस्तुत: 'लोकतंत्र' समाजतंत्र और मानव परिवार की सारी दरारों को ढकने वाला एक मुकम्मा बनकर रह गया है । चीजों की चिकनाहट और चमक-दमक बनाए रखिए और सब कुछ ठीक हो जाएगा । शायद मैं एक बूढ़ा पागल हूं, जो बार बार कहता हूं कि ऐसा दिखावटी लोकतंत्र चलेगा नहीं ।

लेख का अंत इस प्रकार है - 'प्रिय पाठक, मेरी एक विनती है । मुझे गलत मत समझिए । मैं अंतरंग जानकारी के आधार पर अब यह सब कह रहा हूं । मैं कितने ही वर्षों तक, पुराने युग के डायोजिनिस की तरह, हाथ में

मशाल लेकर एक ईमानदार गांधीवादी की तलाश में कोना कोना छानता रहा हूं। लेकिन मुझे एक भी गांधीवादी नहीं मिला। यह उलट जवाब देने में कोई सार नहीं कि मुझे उस मशाल की रोशनी सबसे पहले अपने आप को देखना चाहिए था। मैंने कभी भी सत्याग्रही होने का दावा नहीं किया - मैं जानता था कि यह कितना मुश्किल काम है।

आप पूछ सकते हैं, क्यों? सत्याग्रही होने में क्या मुश्किल है? गांधी के जाने के बाद क्या हमारे यहां हजारों सत्याग्रही और सैंकड़ों सत्याग्रह नहीं हुए? ठीक है, बहुत हुए, यदि आप सत्याग्रह के अर्थ को इतना लचीला बना दें कि उसमें सब कुछ और हर कोई समा जाए। परन्तु सत्याग्रही बनने के लिए यह न्यूनतम आवश्यकता है कि उसकी ईश्वर में जीवंत निष्ठा हो। इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्रह्लाद है। इसकी इसीलिए निर्विवाद आवश्यकता है कि (अपने सही गांधीवादी अर्थ में) सत्याग्रह में अपने सत्य की रक्षा के लिए अपना जीवन देने की तैयारी शामिल है। उस सत्य की रक्षा के लिए जिसे एक व्यक्ति गहन विचार के बाद सही, न्यायसंगत, तर्कसंगत और सर्वोच्च बलिदान जितना मूल्यवान माने।

गांधी के बाद ऐसे कितने सत्याग्रही हुए हैं? जहां तक मुझे पता है, एक भी नहीं।'

उल्लेखनीय है कि आपातकाल काल से पांच माह पूर्व 26 जनवरी 1975 के 'धर्मयुग' में प्रोफेसर जयदेव सेठी की पुस्तक 'इण्डिया इन क्राइसिस' की चर्चा करते हुए गणेश मंत्री ने लिखा है, 'जयप्रकाश देश के जनजन, गांधी के दरिद्र-नारायण के साथ पूरी तरह से एकाकार हो सकते हैं। और किसी भी भारतीय नेता की तुलना में वे देश को गांधी की भाषा में संबोधित कर सकते हैं। गांधी की आत्मा को पुनर्जीवित करने मात्र की उनकी कोशिश ही कांग्रेस जनों को आतंकित करती है। (जयदेव सेठी की पुस्तक से उद्धरण) 'ये लोग माओ, ग्वेवारा या ब्रजनेव से नहीं डरते, लेकिन गांधी के भूत (गांधी-मूल्य) की वापिसी के भय

से इनके प्राण कांपते हैं। इसलिए जे. पी. और बिहार में आंदोलन शुरू करने के उनके प्रयासों के विरुद्ध इतना जहर उगला जा रहा है।'

इस नजर से देखें तो हम बहुत आसानी से समझ सकते हैं कि तो. कृ. महादेवन को 'स्वातंत्र्य' के गांधीवादी अर्थों से इतनी चिढ़ क्यों है ? उनके 'सत्याग्रह' के आग्रह को नकारना आपात काल के 'असत्याग्रह' के जैसा ही है।

मुल्कराज आनंद 'हमारी विरासत : नेहरू' पर लिखते हुए अपने लेख का समापन इस तरह करते हैं, 'इस प्रकार जवाहरलाल नेहरू के लिए स्वतंत्रता का अर्थ, एक उच्च मध्यमवर्गीय का किसी गोरे व्यक्ति के साथ रेलगाड़ी के पहले दर्जे में यात्रा करने का अधिकार मात्र नहीं था। इसका अर्थ हर भारतीय के सहज मानवीय सुविधाओं के साथ रेल में सफर करने के अधिकार को सुनिश्चित करना था। उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता का अर्थ था उस भारतीय जनता की शोषण से मुक्ति, जिसका कच्चा माल शासक लोग कौड़ियों के मोल इंग्लैण्ड में ले जाते थे और फिर उससे तैयार माल को वापस जहाजों से लाद कर उन्हीं 'देसी' लोगों को ऊंची दरों पर बेचते थे।

इस परिकल्पना में स्वतंत्रता का अर्थ बात-बात पर शेरडिन और बर्क जैसे गोरे चिंतकों का हवाला देने वाले अंग्रेज़ी बोलने वालों के लिए नहीं रहा। यह करोड़ों भारतीयों द्वारा मतदान के जरिए अपनी विधायिका सभाएं चुनने का प्रजातांत्रिक अधिकार बन गया।'

इस लेख को आपातकाल का समर्थक तो नहीं कहा जा सकता, पर इसमें एक खास संतुलन और ऐतिहासिक संदर्भों के द्वारा सायास कुछ बिंदुओं से बचा गया है। इस तरह यह जवाहर लाल नेहरू का महिमागान बनकर रह गया है। पूरे लेख में नेहरू ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर जो लिखा है, प्रेस की स्वतंत्रता की जो वकालत की है, उस पर बोलती हुई चुप्पी है।

'हमारी विरासत : माखनलाल चतुर्वेदी' पर लिखते हुए श्रीकांत जोशी ने

'स्वातंत्र्य मुरली और पांचजन्य' शीर्षक से लिखते हुए अपने लेख का समापन इस प्रकार किया है, 'स्वतंत्रता के बाद माखनलाल जी सत्ता की राजनीति में नहीं उलझे । श्री नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में, 'जब तक राजनीति भावात्मक थी और साहित्य के समान वृत्तियों की अपेक्षा रखती थी, तब तक चतुर्वेदी जी दोनों का पल्ला पकड़े रहे, जब उन्होंने इन दोनों में खींचतान देखी और यह पाया कि दोनों की सहचारिता संभव नहीं है, तब वे राजनीति से एकांतत: विरत हो गये ।'

राजनीति से चतुर्वेदी जी निश्चय ही विरत हो गये किन्तु उनकी चेतना का एक अंश सदैव ही श्रमिकों और किसानों और साधारणों के पक्ष का समर्थन करता रहा । परवर्ती काव्य में आस्था, समर्पण और प्रकृति के गूढ़ रहस्यों से साक्षात्कार करती हुई उनकी काव्य-मनीषा यह भी सदा पूछती रही ।'

सामान्य परिस्थितियों में यह लेख सत्ता का समर्थन करता हुआ हम नहीं मान सकते थे, पर आपातकालीन परिस्थितियों में यह हमें राजनीति से दूर रहने की प्रेरणा देता है । समाज को अराजनीतिक बनाना आपातकाल की एक बुनियादी प्रतिज्ञा थी ।

'हमारी विरासत : गणेश शंकर विद्यार्थी' पर लिखते हुए कृष्ण बिहारी मिश्र के लेख में नैतिक मान्यताओं, ईमानदारी पर हम पर्याप्त अस्पष्टता और उलझाव देख सकते हैं । सिर्फ एक बार 'स्वतंत्रता' शब्द का प्रयोग लेख में है, जबकि लेख का शीर्षक ही है 'स्वातंत्र्य : अंगार आत्मदान' के । 'प्रताप का जन्म किसी विशेष सभा, संस्था, व्यक्ति या मत के पालन-पोषण, रक्षण या विरोध के लिए नहीं हुआ है, किन्तु उसका मत स्वातंत्र्य-विचार और उसका धर्म सत्य होगा... मनुष्य की उन्नति भी सत्य की जीत के साथ बंधी है ।'

आत्मतुष्टि फैलाने के रूप में हम आपातकाल का समर्थन देखें तो उसका एक मजबूत बिंदु हो सकता है हिंदी भाषी जनता को हिन्दी भाषा के गुण-

गान से अपनी ही खोह में सुप्त रखना । हिन्दी भाषा, हिन्दी सम्मेलन आदि पर बहुत सारे लेख इस समय निकले । जिनमें हिंदी देश में, विदेश में और हिंदी के भविष्य और अतीत की गौरवमयी गाथा पढ़ने को मिलती है । एक लेख में तो डा. रहमत उल्लाह ने यहां तक लिखा है, `हिंदी को हमारे संविधान ने राष्ट्र भाषा का महान पद प्रदान किया है ।' (धर्मयुग, 11 जनवरी, 1976, पृष्ठ 26)। जो कि पूर्णत: असत्य है । राष्ट्रभाषा शब्द ही संविधान में नहीं है ।

धर्मयुग आपातकाल के विरोध में

आपातकाल का विरोध हम लोकतंत्र का समर्थन, अभिव्यक्ति की तथा अन्य स्वतंत्रताओं का समर्थन और मानव अधिकारों का समर्थन तथा तानाशाही सर्व-सत्तावाद के विरोध आदि के रूप में धर्मयुग में पाते हैं । सीधे आपातकाल का विरोध ढूंढ़ने में हमें यहां निराशा ही मिलेगी ।

धर्मयुग, 4 जनवरी 1976 के अंक में `यूरोप : साम्यवादियों के बदलते समीकरण' लेख में गणेश मंत्री ने लोकतंत्र तथा स्वतंत्रता का पुरजोर समर्थन किया है ।

लेख के `लोकतंत्र की रक्षा का वचन' नामक खण्ड में लेखक कहता है, `पश्चिम यूरोपीय पार्टियां स्वायत्तता की दिशा में कितनी आगे बढ़ गयी हैं, इस का एक उदाहरण नवंबर के मध्य में इतालवी और फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टियों के नेताओं का एक संयुक्त वक्तव्य है । इतालवी पार्टी के नेता एनरिको बर्लिंगर और फ्रांसीसी पार्टी के प्रवक्ता जोर्जेस मार्शीई ने पूर्वी बर्लिन में यूरोपीय कम्युनिस्ट सम्मेलन की तैयारी समिति की चौथी बैठक शुरू होने के ठीक पहले, रोम में यह वक्तव्य दिया कि उनकी पार्टियां लोकतांत्रिक ढंग से सत्ता प्राप्त करने में विश्वास करती हैं । वे सत्ता प्राप्त करने के लिए व्यापक संयुक्त मोर्चे बनायेंगी और सत्ता में आने के बाद नागरिकों की `उन सारी स्वतंत्रताओं को, जो महान पूंजीवादी क्रांतियों या इस सदी में कामगार वर्ग के नेतृत्व में चले महान जनवादी संघर्षों की परिणतियां हैं, सुरक्षित रखेंगी और उनको विकसित करेंगी ।

कहीं कोई अस्पष्टता न रहे, इसलिए संयुक्त वक्तव्य में उन सभी स्वतंत्रताओं को भी गिना दिया गया, जिन्हें इटली और फ्रांस के कम्युनिस्ट अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। उनके अनुसार विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समाचार पत्रों की स्वतंत्रता, सभा संगठन की स्वतंत्रता, प्रदर्शन करने व देश तथा देश के बाहर स्वच्छंद विचरण करने की स्वतन्त्रता, निजी जीवन की गरिमा, धार्मिक विश्वास और उपासना की स्वतन्त्रता तथा किसी भी प्रकार की दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' को वे अक्षुण्ण मानते हैं और उनकी रक्षा का पूरा आश्वासन देते हैं, इतना ही नहीं, दोनों दलों ने यह भी स्वीकार किया कि वे 'एक से अधिक राजनीतिक दलवाली व्यवस्था के पक्ष में हैं और विरोधी दलों के अस्तित्व और कार्य करने के अधिकार को मान्यता देते हैं तथा मुक्त रूप से बहुमत, अल्पमत के निर्माण, राज्य के लोकतांत्रिक स्वरूप तथा न्याय-पालिका की स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं।

स्वाभाविक ही इतालवी और फ्रांसीसी पार्टियों के इस संयुक्त वक्तव्य की कम्युनिस्ट क्षेत्रों में व्यापक प्रतिक्रिया हुई। सोवियत प्रवक्ताओं की दृष्टि में यह सरासर सिद्धान्तहीनता का लक्षण था, एक ऐसा लक्षण, जिसके प्रति वे पिछले कुछ अरसे से लातार अपने पश्चिम यूरोपीय साथियों को आगाह करते आ रहे थे।

इन तमाम सैद्धांतिक ऊहापोह के बीच कतिपय प्रेक्षकों ने यह पूछा है कि यदि इटली और फ्रांस में लोकतांत्रिक चुनाव के जरिए कम्युनिस्ट सत्ता में आ जायें, तो सोवियत संघ को क्या आपत्ति है। इस प्रश्न का सबसे विचित्र, परन्तु अत्यंत तार्किक उत्तर स्पेनी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रवक्ता सांतियागो कारिल्लो ने दिया है। इटली के पत्र 'मेनिफेस्टो' को एक भेंटवार्ता देते हुए उन्होंने कहा कि इटली में कम्युनिस्ट साझीदार वाली सरकार बनने तथा फ्रांस में और स्पेन में कम्युनिस्टों की कामयाबियों के परिणामस्वरूप पश्चिम यूरोपीय समाजवादी देशों का एक अलग गुट उभर सकता है। करिल्लो का कहना है कि इस तरह के

गुट को क्रमलिन के कर्ता धर्ता निश्चय ही शंका की नजर से देखेंगे, क्योंकि न केवल ये देश सोवियत संघ पर `निर्भर` नहीं होंगे, बल्कि पश्चिम यूरोपीय देशों में लोकतंत्र के साथ साम्यवाद का प्रयोग देर-सबेर पूर्वी यूरोप की सर्व-सत्तावादी व्यवस्थाओं के लिए एक ऐसा संक्रामक रोग बन सकता है, जिसे रोकना सोवियत नेताओं केलिए कठिन काम बन जाए ।

15 फरवरी 1976, `धर्मयुग`, में सुरेंद्र प्रताप सिंह का लेख राजनीति में विज्ञापन की बढ़ती भूमिका पर गहरी रोशनी डालता है, कि किस तरह व्यक्तित्वों और चेहरों को राजनीति में विज्ञापन के माध्यम से वोटरों को बेचा जाता है । सिंह लिखते हैं `आम आदमी का यह स्वभाव है कि वह हरदम, यह भ्रम सायास बनाये रखना चाहता है कि जिस आदमी को वह अपना नेता चुन रहा है, वह निश्चय ही उससे हर स्तर पर कहीं न कहीं ऊंचा होगा । उसकी दृष्टि में उसका नेता एक प्रमुख आदमी तो होता ही है । इसके अलावा उसमें वह भगवान, पिता, सर्वगुण सम्पन्न नायक, धर्मगुरु तथा सम्राट के गुण भी ढूंढ़ता है । इन सारे गुणों वाला व्यक्ति इतिहास में कभी-कभी ही पैदा होता है, जबकि हर देश में हर समय नेता की जरूरत तो पड़ती ही है । फिर उपाय क्या है ? यही कि यह सारे गुण हों या न हों, पर किसी न किसी तरह जनता के सामने यह भ्रम जाल सफलतापूर्वक बिछा दिया जाये कि उसका नेता ही आदर्श नेता है । अपनी पुस्तक `द इमेज` में डेनियल बूरिस्तन ने इस बात को और स्पष्ट किया है -`पिछली आधी शताब्दी से हम लगातार अपने आप को धोखा देते आ रहे हैं ... खासकर व्यक्ति के सम्बन्ध में... कि आदमी कितना महान् हो सकता है ... हम अपने भ्रम को इस गहराई तक पहुंचा चुके हैं कि अब इसे ही वास्तविकता मानने लगे हैं । यहां तक कि अब हम यही चाहते भी हैं - यही नहीं, उस भ्रम को और विराट रूप देकर उसे वास्तविक समझना चाहते हैं ।`

यही कारण है कि इस शताब्दी की राजनीति सिर्फ राजनीति की राजनीति नहीं रह गयी है । यह सफल से सफलतम भ्रमजाल की राजनीति बनती

जा रही है । वर्तमान उपभोक्ता संस्कृति ने इसे बहुत बल दिया है ।`

यह एक सर्वज्ञात तथ्य है कि इंदिरा गांधी ने आपात-काल के पूर्व और इसके पहले `विज्ञापन` और संचार साधनों का अपनी तथा पार्टी की इमेज बनाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया । आपातकाल में तो इस प्रवृत्ति ने अपनी सारी सीमाएं तोड़ दी थीं । सारा देश इंदिरा मय हो गया था । विज्ञापन का राजनीति में प्रवेश एक तरह से इसी समय के बाद हम मुख्यत: देखते हैं ।

सुरेंद्र प्रताप सिंह का एक और लेख इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है - मांगी हवा, मिली इसाबेला। (धर्मयुग 24 अगस्त, 1975) । इस विषय को ढूंढ लाना ही अपने आप में लेखक की सजग दृष्टि सम्पन्नता का परिचायक है । क्योंकि इस कथा का कोई समकालीन संदर्भ नहीं था । कथा है अर्जेंटीना के शासक पेरों और उसकी पत्नी इवा का जो कि `गरीबों की मसीहा` थी । लेख की शुरुआत इस तरह से है । `17 वर्षों तक निष्कासन भोगने के बाद जुआन पेरों उस दिन अर्जेन्टीना वापस आ रहे थे । (1972 में) । देश भर में उत्साह का क्या आलम था । लाखों लोग - बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष, छात्र-मजदूर-किसान-सैनिक, वकील-पत्रकार, लेखक-कवि - कौन नहीं था वहां पर ? चरम दक्षिणपंथियों और चरम वामपंथियों की बंदूकें हालांकि एक-दूसरे पर तनी हुई थीं, पर ये सभी पेरों के साथ । भीड़ इस कदर बेकाबू हो गयी कि पेरों का विमान वहां न उतर कर निकट के सैनिक अड्डे पर ले जाया गया, लेकिन वहां भी वही आलम था - वैसी ही भीड़ ।

पेरों वायुयान से उतरे और उनके साथ ही उतरी एकस्त्री । दुबली-पतली, लंबी, खूबसूरत औरत । हजारों लोग पागलों की तरह चीख रहे थे - एविटा... एविटा ... हालांकि लोगों को अच्छी तरह पता था कि यह उनकी चहेती एविटा यानि इवा नहीं, इसाबेला है - उनके प्रिय नेता जुआन पेरों की तृतीय पत्नी । .... ।

इसाबेला को इवा बनाना पेरों की कोई व्यक्तिगत कमजोरी नहीं थी, बल्कि सच तो यह है कि यह उसकी मजबूरी थी । पेरों उन शासकों में से एक था, जिसे जनता भय से नहीं, बल्कि सच्चे हृदय से बेशुमार प्यार करती थी । इस सब के पीछे थी - इवा । - - - ।

1974 में पेरों की मृत्यु के बाद अर्जेन्टीना का शासन-भार कमजोर इसाबेला के कंधों पर ही आया । ...

चूंकि 1973 में सेना का कोई खतरा नहीं था, इसलिए पेरों ने तानाशाही द्वारा अनेक बार आजमाया गया आसान नुस्खा अपनाया । उसने आम आदमी को संतुष्ट रखने के लिए तरह-तरह के प्रगतिशील और वामपंथी नारे दिये, जबकि वास्तव में सरकार पूंजीपतियों के हितों की रक्षा करती रही । पेरों की इस नीति को इसाबेला ने भी जारी रखा । तरह-तरह के आर्थिक कार्यक्रम घोषित किये गये, लेकिन मुद्रा स्फीति की दर में कोई कमी नहीं आयी । मुद्रास्फीति 1974 में 70 प्रतिशत हुई । मूल्यों में 130 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि वेतन अपरिवर्तित रहे ।

दूसरी ओर मजदूर आंदोलनों में भी तेजी आयी । प्रदर्शनों, आंदोलनों, हड़तालों ने इसाबेला के श्रम मंत्री को मजदूरों के साथ बैठने पर मजबूर कर दिया । समझौते से तय पाया गया कि मजदूरों के वेतन में शत-प्रतिशत वृद्धि की जायेगी । लेकिन यह समझौता मालिकों के गले न उतर सका और इसाबेला ने अपने श्रम मंत्री के साथ किये गये समझौते को रद्द कर दिया ।

आज इसाबेला ने अर्जेंटिना को एक तरह की तानाशाही में कैद कर रखा है । मजदूर संगठनों की बढ़ती शक्ति को ठिकाने लगाने के लिए, हथियार बंद पुलिस दस्तों को इन पर छोड़ दिया गया है । कल की कमजोर इसाबेला ने, अपने वर्ग मित्रों के सहयोग से अर्जेंटिना में मजदूर आंदोलनों के दमन का एक नया अध्याय प्रारंभ किया है ।

इवा के चहेते अर्जेंटिनावासियों को इवा तो नहीं, पर इसाबेला जरूर मिल गयी है, जो मेकअप और बालों की बनावट से भले ही इवा दीखने की कोशिश करे, पर वह इवा नहीं है । उसके नाम के साथपेरों का नाम भले ही जुड़ा हुआ है, पर वह पेरो भी नहीं है । वह इसाबेला है ।'

उपरोक्त लेख में हम अपने देश की आपातकालीन स्थितियों तथा पूर्व आपातकालीन स्थितियों (यथा प्रगतिशील तथा वामपंथी नारे, मुद्रा स्फीति 60 से 70 प्रतिशत, मजदूर आंदोलन का कुचला जाना - जैसे रेल मजदूरों का निर्मम दमन) की सहज ही पढ़ सकते हैं । यहां तक कि इंदिरा गांधी को भी प्रारंभिक वर्षों में 'इसाबेला' की तरह कमजोर अर्थात् 'गूंगी गुड़िया' कहा जाता था । इसी 'गुड़िया' ने आगे जाकर देश को आपातकाल अर्थात् 'एक तरह की तानाशाही में कैद कर' दिया ।

'धर्मयुग' में इससे साफ विपरीत स्वर आपातकाल के समय देखने को नहीं मिलता है ।

कुछ प्रतीकात्मक विरोध हम प्रकाशित व्यंग्यों, कविताओं में भी पा सकते हैं, जैसे 11 जनवरी 1976, धर्मयुग के अंक में सूर्य भानु गुप्त की एक व्यंग्य कविता 'विज्ञापन' -

एक / प्रतिष्ठित चेहरे में /
एक वरिष्ठ दांत की / जगह
खाली है / पत्थर और हाथी दांत को
प्राथमिकता / उज्जवल भविष्य / पद स्थायी है ।'

या फिर कृष्ण कुमार की 'गड्ढे' कविता, 9 नवंबर 1975, 'धर्मयुग' में --

वे सब गड्ढों में खड़े थे
गड्ढे को कभी घर मानते
कभी पाताल जाने की सुरंग
और इसी संतोष में सुख पाते ।

गढ्ढे इतने गहरे थे कि
समूचा आदमी समा जाये ।
आसपास कुछ पानी था
जिससे चित्त ठण्डा बना रहे ।
आखिर वे गढ्ढे ही थे ।
न घर थे न सुरगें ।
इसलिए वे भर दिये गये
और उनमें खड़े लोग खड़े रह गये ।

जगदीश गुप्त की कविता 'अभिषेक', 4 अप्रैल 1976, धर्मयुग, को भी हम आपातकालीन मूल्यों के विरोध में ही पाते हैं --

शाखा में लटके / शंबूक के / कटे हुए शीश ने
शब्दों से / गाढ़ा काला रक्त वमन कर / एकलव्य के
शराच्छिन्न गूंगे अंगूठे से कहा - उठो मेरे माथे पर
अपने ताजे खून का / तिलक करो /
पैरों से कुचली प्रतिष्ठा के /
अभिषेक के लिए /
मुझे एक युग से /
तुम्हारी प्रतीक्षा थी /
जो मेरी नियति थी
तुम्हारी भी वही हुई ।
मैंने जब मांगा /
जन्म-सिद्ध अधिकार /
आत्मा के शिखरों को छूने का, /
स्वयं खड्ग-पाणि हो
उतर आये हिंसा पर
मर्यादा पुरुषोत्तम ... ... ।'

इन्हीं आधारों, रूपों पर हम `धर्मयुग` में यत् किंचित कुछ और लेखों, कविताओं, व्यंग्यों में आपातकाल का विरोध देख सकते हैं ।

`धर्मयुग` पत्रिका के नाम से यह कहीं जाहिर नहीं होता कि यह एक समाचार अथवा सामाजिक-राजनीतिक पत्रिका थी । जैसा कि इसकी समकालीन पत्रिकाओं के नाम से, यथा `दिनमान`, `साप्ताहिक हिंदुस्तान` से यह आभास होता है । वस्तुत: `धर्मयुग` इस तरह की पत्रिका थी भी नहीं । समाचार और राजनीतिक पत्रिका न होने की वजह से इसमें आपातकाल के दौरान भी परिवर्तन की बहुत संभावना नहीं थी अर्थात् सेंसर के लिए यहां बहुत कुछ नहीं था । संपादकीय न होने की वजह परिवर्तनों को भांपना सीधा और सरल नहीं रहा । बहुत सारे प्रसंग जो उस समय ज्वलंत थे, जिनमें कुछ को `दिनमान` ने अपने ढंग से लिखा भी, `धर्मयुग` अपने को उनसे स्वभावगत रूप से विरत किये रहा । जनता से दूर किसी अन्य लोक के विषयों को जो चौंकाये और संतुष्ट रखें, को विषय बनाया गया, या फिर घरेलू विषयों को चुना गया । एक तरह का कूप-मण्डकीय स्वमुग्ध वातावरण पत्रिका में अवश्य रहा, पर इसने आपातकाल का न मुखर समर्थन भी कहीं नहीं किया । जैसा कि हम `साप्ताहिक हिंदुस्तान` में देख सकते हैं । अपितु इसने अपनी स्वभावगत प्रवृत्तियों से उबर कर कई बार ऐसे विषयों को भी चुना जिनमें आपातकाल के विरोध को साफ पढ़ा जा सकता है । हम कह सकते हैं कि धर्मयुग में आपातकाल का मौन समर्थन मिलता है तो बोलता हुआ विरोध भी यहां है ।

(स) आपातकाल और हिंदी के पत्रकार

किसी भी सर्वसत्तावादी शासन के लिए लोगों के पेट में जाने वाले 'अन्न' पर नियंत्रण से ज्यादा जरूरी यह है कि वह उनके दिमाग में पड़ने वाले अक्षर पर नियंत्रण रखे। लोकतांत्रिक शासन प्रक्रिया में तानाशाही बनाये रखने के लिए अक्षर पर नियंत्रण के साथ साथ समाज को अराजनीतिक बनाना भी आवश्यक होता है ; ताकि नागरिकों में अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति चेतना न रहे। इसलिए किसी भी सर्वसत्तात्मक शासन के लिए यह आवश्यक होता है कि इन दोनों प्रक्रियाओं अर्थात् 'अ-लख जगाने' वाले प्रेस तथा लोकतंत्र के प्रसार पर पूर्ण नियंत्रण हो। इसी उद्देश्य से आपातकाल में प्रेस और सेंसरशिप लागू की गई थी। जाहिर है यह सेंसरशिप मालिकों और मशीनों पर नहीं, वरन् पत्रकारों पर थी।

वस्तुत: आपातकाल ने अगर सबसे ज्यादा प्रभावित किसी पेशे को, किसी कौम को किया तो वह है पत्रकारिता और पत्रकार। क्योंकि पत्रकार के लिए इससे ज्यादा हताशाजनक और कुछ नहीं हो सकता कि उसके पास जो समाचार है, वह प्रकाशित नहीं हो सकता। वह जो लिखना चाहता है, वह नहीं लिख सकता। और लगातार बीस महीनों तक इस तरह का उधम चलता रहे कि उसकी अनुसंधान और अध्ययन वृत्ति को ही घुन लगने लगे। निश्चित रूप से इस काल ने अपने पेशे के प्रति ईमानदार पत्रकार के मन-मस्तिष्क को गहरे तक स्थायी रूप से प्रभावित किया। अभिव्यक्ति के इन दूतों अर्थात् पत्रकारों को आपातकाल ने किस तरह से प्रभावित किया, इसी उद्देश्य से उस समय के पत्रकारों से ये साक्षात्कार लिए गए हैं। मेरा चुनाव सायास रूप से हिंदी पत्रकारों का रहा क्योंकि वह अंग्रेजी पत्रकारों की तुलना में निश्चित रूप से ज्यादा विषम स्थिति में हैं और जनता से सीधे सम्पर्क कायम करने की स्थिति में है। यह स्थिति मुझे इस निष्कर्ष की ओर ले गई कि सेंसर की मार से सबसे ज्यादा असुरक्षित हिंदी का पत्रकार ही रहा होगा। जिन पत्रकारों से मैं इस सीमित अवधि में मिल सका, उनमें हैं प्रभाष जोशी, राजेन्द्र यादव, गिरधर राठी, जवाहरलाल कौल, रामशरण जोशी, विनोद भारद्वाज,

प्रयाग शुक्ल। मेरे मत के समर्थन में राजेन्द्र यादव व रामशरण जोशी ही मात्र आते हैं । हां, मेरे मत का सबसे प्रबल समर्थन अच्युतानंद मिश्र (सहायक संपादक, जनसत्ता) का यह लेखांश है, 'हिंदी समाचार पत्रों, उसके प्रकाशकों और पत्रकारों का पिछले दो दशक का लेखा जोखा निराशाजनक है । आपातकाल लागू होने पर कितने हिंदी पत्रकारों ने विरोध करने की हिम्मत दिखायी थी ? जो जबरन जेल भेजे गए थे, उनमें लगभग सभी माफी मांग कर वापिस आए थे । बाद में जनता पार्टी सरकार के मंत्रियों ने उन्हें 'रीढ़हीन' और 'केंचुए' कहकर सम्बोधित किया था । श्रीमती इंदिरा गांधी के संकेत पर पत्रकारों के लिए आचार संहिता बनाने का काम हिंदी के एक प्रमुख संपादक ने किया था ।' पर प्रभाष जोशी इससे सहमत नहीं हैं, उनका कहना है कि 'क्या हिंदी, क्या अंग्रेजी, सभी के पत्रकारों ने समर्पण कर दिया था ।' गिरधर राठी भी इससे सहमत हैं ।

मैं जिन प्रश्नों के साथ पत्रकारों से मिला, उनमें पत्रकारिता और आपातकाल दोनों से सम्बद्ध प्रश्न थे, उनको मोटे रूप में इस तरह रखा जा सकता है - पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका समाज में क्या होती है । विकासशील देशों के संदर्भ में प्रेस की स्वतंत्रता । सेंसरशिप के प्रकार । आपातकाल के बाद हिंदी पत्रकारिता तथा पत्रकार की दिशा और दशा । क्या आपातकाल महज हादसा था ? आपातकाल उठाने के क्या कारण थे । पत्रकारों पर किस तरह के दबाव आपातकाल में थे । पत्रकारिता के अलावा अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों साहित्य, चित्रकला, नाटक, फिल्म को आपातकाल ने किस तरह प्रभावित किया । अगर आपातकाल न आया होता तो आज का भारत किस तरह का होता ? उसके लोकतंत्र, राजनीति, समाज के स्वभाव, पत्रकारिता का आज क्या स्वरूप होता ?

* जनसत्ता (हिंदी दैनिक, दिल्ली) के संपादकीय सलाहकार तथा आपातकाल के समय `प्रजानीति` (एक्सप्रेस ग्रुप) साप्ताहिक के संपादक प्रभाष जोशी से उनके घर पर दिनांक 6 जुलाई, 1997 को कुछ प्रश्नों के साथ लिया गया साक्षात्कार --

प्रश्न - आज के संदर्भ में समाचार पत्र, पत्रिकाओं की भूमिका समाज में क्या होनी चाहिए ?

उत्तर - मैं पाता हूं कि भारत की आज की स्थिति में अखबारों की जो भूमिका होनी चाहिए थी, वह है नहीं । इसका एक कारण तो टेलीविजन और सेटेलाइट टी. वी. का पिछले छः वर्षों में हुआ अद्‌भुत विस्तार है । दूसरा, जब से खुले बाजार की अर्थव्यवस्था पर हमारा जरूरत से ज्यादा ज़ोर बढ़ा है, तब से मुनाफा जो भारतीय मानस में कोई प्रतिष्ठित शब्द नहीं था वह लाभग सबसे बड़ा उद्‌देश्य हो गया है । कई बड़े बड़े अखबारों के मालिकों ने नासमझी में कहा है कि दूसरे किसी भी उत्पाद की तरह उनका अखबार या पत्रिका भी एक उत्पाद है। और जिस तरह दूसरे सभी उद्योग व्यापार मुनाफे केलिए चल रहे हैं, वैसे ही उनका अखबार । दूसरे प्रकाशनों की तरह भारत में अखबारों की भूमिका आर्थिक लाभ कमाने के लिए ही कभी मानी नहीं गई थी । भारत में अखबार अठारहवीं शताब्दी से ही लोगों को सूचना देने, उन्हें जागृत करने और समाज परिवर्तन का माध्यम बनने के लिए निकलते रहे हैं । आज के कई जवान अखबार मालिकों को इसकी प्रतीति नहीं है और खुले बाजार के नये अल्लाह ने उन्हें इतना मुंहफट बना दिया है कि वे सरेआम सिर्फ मुनाफे की बात करते हैं ।

प्रश्न - प्रेस की स्वतंत्रता को (विशेषकर विकासशील देशों के संदर्भ में) आप किस तरह से देखते हैं ?

उत्तर - मैं नहीं मानता कि विकसित और विकासशील देशों के संदर्भ में प्रेस की स्वतंत्रता अलग-अलग हो सकती है । प्रेस की स्वतंत्रता एक सभ्य लोकतांत्रिक

समाज की पहली कसौटी है । और वह विकसित व विकासमान पर समान रूप से लागू होती है ।

प्रश्न - क्या सेंसर सिर्फ राज्य और सरकार की ही तरफ से आते हैं ? हिंदी पत्रकारिता के संदर्भ में क्या स्थिति है ।

उत्तर - सेंसरशिप सिर्फ राज्य से नहीं होती । सेंसरशिप आतंकवादी संगठनों से भी आते हैं, जैसा कि हमने पंजाब और कश्मीर में देखा । कुछ अखबार सोच समझ कर और अपने हितों की रक्षा के लिए भी सेंसरशिप लगाते हैं । लेकिन 1975 में जो सेंसरशिप श्रीमती गांधी ने लगाई थी उसका कारण प्रेस का अपने ऊपर सेंसरशिप लगाना नहीं है । इंदिरा गांधी उस प्रेस का गला बंद कर देना चाहती थी जो उनकी इमर्जेन्सी की असलियत का भण्डाफोड़ कर सकते थे ।

प्रश्न - आपातकाल के बाद हिंदी पत्रकार की दिशा और दशा में अन्तर क्या आया है ?

उत्तर - आपातकाल के बाद जो परिवर्तन पत्रकारिता में आए, उनका असर पत्रकारों पर भी पड़ा ही है । पत्रकार अब पहले सेज्यादा कहीं बन्धन मुक्त हो गये और सामाजिक राजनीतिक दृष्टि से पत्रकारिता ही चूंकि दिशाहीन हो गई है, इसलिए पत्रकार को भी वैचारिकता के नाते बहुत कुछ करने का अवसर नहीं मिलता है । और इसी कारण कई पत्रकारों को लगता है कि नौकरी करना, पत्रकारिता का इस्तेमाल करते हुए पैसा बनाना, सत्ता के दूसरे केन्द्रों में जगह बनाना, राजनीतिक सत्ता में भागीदारी पाना ही पत्रकारिता का ज्यादा बड़ा उद्देश्य है । इसके लिए पत्रकार उतना दोषी नहीं है जितनी कि पत्रकारिता और आज की परिस्थिति । यह स्थिति हिंदी और अंग्रेजी दोनों में है । अंग्रेजी में कोई देवदूत नहीं बैठे हुए हैं ।

प्रश्न - भारतीय जनमानस विशेषकर बौद्धिक वर्ग यथा - पत्रकार तथा अध्यापक की साख पर आपातकाल ने क्या छाप छोड़ी ?

उत्तर - आपातकाल के पहले लोग अपने लोकतांत्रिक अधिकारों को अपना

जन्मसिद्ध अधिकार मानकर चल रहे थे । आपातकाल में उन्हें झटका लगा कि उनके लिए भी संघर्ष करना होगा । नहीं तो सीमित आजादी और सीमित लोकतंत्र लाने में हमारे अपने राजनेता भी नहीं हिचकेंगे ।

प्रश्न - आपातकाल क्या अमरीकी दबाव की वजह से हटाया गया ?

उत्तर - मैं नहीं मानता कि आपातकाल अमरीकी दबाव की वजह से हटाया गया । इंदिरा गांधी अमरीकी दबाव में आने वाली महिला नहीं थीं । अमरीकी दबाव था भी नहीं । अमरीकी सरकार बड़ी से बड़ी तानाशाही का न केवल समर्थन करते रहते हैं वरन् उसकी स्थापना में मदद भी करते रहते हैं । इसलिए यह कहना कि वे हिंदुस्तानी लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा करेंगे, उन्हें जरूरत से ज्यादा महत्व देना है ।

प्रश्न - पत्रकारों पर किस तरह के दबाव आपातकाल में थे ? हिंदी पत्रकारों ने उनका किस तरह सामना किया ?

उत्तर - सबसे बड़ा दबाव तो कि जो लिख सकते थे, वो छपता नहीं था । दूसरे आप बातचीत में भी खुलकर अपनी राय नहीं व्यक्त कर सकते थे । क्योंकि का जाल सभी जगह फैला हुआ था। स्वतंत्र जासूसी, पत्रकारिता देश में चल सकेगी भी या नहीं, इसका भी विश्वास पैदा करने वाले संकेत नहीं थे । और पत्रकारिता स्वतंत्र बुद्धि विचार तथा अभिव्यक्ति की बजाय सरकार जो कहे, उसे छापने का माध्यम हो गई थी ।

उस समय मैं 'इण्डियन एक्सप्रेस' में था । और जिस साप्ताहिक का मैं संपादक था, उसे सेंसर ने खेल और सिनेमा के पेज छोड़ कर सारे पेज काट कर वापिस कर दिया था । जाहिर है कि सेंसर उसे छापना नहीं चाहता था । इस तरह उस अखबार 'प्रजानीति' को बंद करना पड़ा ।

यहां भी हिंदी और अंग्रेजी में फर्क करना ठीक नहीं । सभी पत्रों तथा पत्रकारों ने सरकार के आगे घुटने टेक दिए थे ।

प्रश्न - अगर आपातकाल न आया होता तो आज का भारत किस तरह का होता ? लोकतंत्र पर, राजनीति पर, समाज के स्वभाव पर, पत्रकारिता पर आपातकाल का क्या प्रभाव पड़ा ?

उत्तर - आपातकाल भारत के जीवन में लोकतांत्रिक संस्कार का सबसे बड़ा कारक बना । इंदिरा गांधी आखिर खुद भी एक स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थी । वह उस संग्राम में आहुति देने वाले एक परिवार की कन्या थी और उस वक्त की सबसे लोकप्रिय नेता भी थी । जब ऐसी नेता ही लोगों के बुनियादी लोकतांत्रिक अधिकारों को निलंबित करके अधिनायकवाद थोप सकती थीं तो कुछ भी हो सकता था । मानना चाहिए कि आपातकाल ने देश को यह चेतना दी कि अपने लोकतंत्र को किसी भी व्यक्ति, किसी भी पार्टी, किसी भी क्षेत्र से सुरक्षित न मानें और उसके लिए लड़ने को हमेशा तैयार रहें ।

* 'समकालीन भारतीय साहित्य' के संपादक तथा आपातकाल के समय समाजवादी पत्र 'प्रतिपक्ष' (साप्ताहिक) के संपादक रहे गिरधर राठी से साहित्य अकादमी के उनके दफ्तर में 2 जुलाई, 1997 को सायं साढ़े चार बजे कुछ प्रश्नों को लेकर की गई बातचीत --

अपने साक्षात्कार की शुरुआत गिरधर राठी ने 'प्रतिपक्ष' साप्ताहिक के सीलबंद होने तथा अपनी गिरफ्तारी से की - आपातकाल लागू होने से पहले 'प्रतिपक्ष' ने अपने कई अंकों में चेतावनी दी थी कि आपातकाल लग सकता है। 25 जून से पहले निकले अंक की मुख्य खबर यही थी कि अब लड़ाई जनता और इंदिरा के बीच होगी। अपने जन्म से ही प्रतिपक्ष साप्ताहिक ने जनविरोधी राष्ट्रीय नीतियों और भ्रष्टाचार के खिलाफ खबरें दी थीं। तुल मोहन राम वाले प्रसिद्ध मामले में 'प्रतिपक्ष' ने अंतत: कुछ ऐसी खबर छापी थी कि संसद में उसका तीखा विरोध हुआ। पहले दिन सत्ता पक्ष ने 'प्रतिपक्ष' साप्ताहिक के संपादक और प्रकाशक के खिलाफ संसद की मानहानि का मुकदमा उठाने की मांग की थी। लेकिन विचित्र बात है कि जब पूरे विपक्ष ने भी यही मांग रखी तो सत्ता पक्ष अर्थात् कांग्रेस पार्टी ऐसा मुकदमा चलाने के खिलाफ हो गई। पूरे एक सप्ताह संसद में तुल मोहन राम और 'प्रतिपक्ष' के अलावा कोई बात नहीं हो सकी। उसके बाद भारत व्यापी रेल हड़ताल के समय भी 'प्रतिपक्ष' की भूमिका अहम थी। और जैसा कि मैंने बताया, आपातकाल की तैयारियों की सूचना हमें लगातार मिल रही थी, जिन्हें हम प्रकाशित कर रहे थे। 26 जून, 1975 को दिल्ली से कोई समाचार पत्र नहीं निकला। 28 जून को पुलिस का एक विशेष दस्ता प्रतिपक्ष कार्यालय को सीलबंद करने तथा वहां के कर्मचारियों को गिरफ्तार करने आ पहुंचा। अन्य कोई कर्मचारी गिरफ्तार न हो, इसलिए संपादक के रूप में मैंने पूरी जिम्मेदारी ली और वहीं से टेलिफोन पर आदेश लेकर थानाध्यक्ष ने मुझे भारत सुरक्षा अधिनियम के तहत हौजखास (दिल्ली) थाने में बंद कर दिया। थाने में संभवत: गुप्तचर विभाग के कोई

बड़े अधिकारी बातचीत के लिए आए और उन्होंने तरह तरह के प्रश्न किए। उसके बाद मुझे तिहाड़ जेल भेजा गया, 4 दिन बाद में मुझे डी. आइ. आर. से जमानत पर यह कहते हुए छोड़ा गया कि यदि मैं देश की सुरक्षा के लिए खतरा हूं तो मुझे 'मीसा' में बंद किया जाना चाहिए। न्यायालय के इस निर्णय के बाद लगभग पंद्रह दिन मैं जेल से बाहर रहा। फिर एक रात बातचीत करने के बहाने मुझे थाने ले जा कर तिहाड़ जेल भेज दिया गया। लगभग सत्रह महीने इस तरह से मैं जेल में रहा। तेरह महीने दिल्ली में और शेष जयपुर में। जेल के अनुभव तरह तरह के हैं।

पहला तो यही कि जब मुझे डी. आइ. आर. में ले जाया गया तो मैंने चार दिन तक कोई खाना नहीं खाया। क्योंकि वहां क्तार में बैठ कर घुटनों के बल अपनी हथेलियों में जली हुई रोटी और उसमें सढ़ी हुई दाल लेकर खाना खाना पड़ता था। मैं एक राजनैतिक कैदी था, इसलिए मैंने इस तरह से भोजन लेने से इन्कार कर दिया। तब जेल के सुपरिन्टेंडेंट ने धमकी दी कि वह मुझे तन्हाई में (सालिटेरी सेल में) बंद कर देगा। मैंने कहा ठीक है। वह मुझे वार्ड से बाहर ले गया और झाड़ी के पास कहा कि देखिए, अभी तो आपातकाल लगा है और मजिस्ट्रेट तक बर्खास्त किए जा रहे हैं, मैं कुछ करने में असमर्थ हूं। लेकिन आप मेरी बात मान लीजिए। मैं आपके लिए समुचित राजनैतिक कैदी वाली व्यवस्था करा दूंगा। और आप भूख हड़ताल का अपना इरादा छोड़ दीजिए। तो मैंने कहा ठीक है। अगर आप समुचित व्यवस्था करा देते हैं तो छोड़ दूंगा। लेकिन दूसरे दिन भी कोई व्यवस्था नहीं हुई। और तीसरे अथवा चौथे दिन जमानत का आदेश आ गया। और दूसरा उन्हीं दिनों का एक भयानक अनुभव यह था कि 20 लोगों की बैरक में करीब 300 कैदी (राजनीतिक) थे। स्नानघर में नल बिलकुल दीवार से सट कर बहता था। और पूरे स्नान क्षेत्र में मल तैर रहा था। सोते समय आप रात को अपनी उंगलियां भी नहीं हिला सकते थे क्योंकि वह किसी और से स्पर्श करती, या गिरती। ये राजनैतिक कैदी उस संगीन वार्ड में कैद किए गए थे जहां हिस्ट्री शीटर और बहुत खतरनाक किस्म के अपराधी बंद किए जाते थे। हमारी बैरक के सामने दिल्ली के सबसे कुख्यात अपराधी उसी दशा में बंद थे।

उन्हें नाराजगी यह थी कि हम राजनैतिक लोगों के कारण (वे हमें राजनैतिक कह रहे थे) - हालांकि हम लोगों में से कोई दुकानदार था, कोई अध्यापक था, कोई पत्रकार, जैसा कि मैं था - वे सब उठाकर नाहक ही बंद कर दिए गए हैं। नौबत यहां तक पहुंची कि शायद सौ दो सौ सिर फूट जाते। क्योंकि ये सारे अपराधी हम राजनैतिक कैदियों पर हमला करने की मुद्रा में आ गये थे। इस सुगबुगाहट को देख कर शायद एक अच्छा काम मुझसे यह हुआ कि दोनों पक्षों के कुछ लोगों को बुलाकर बातचीत से इस झगड़े को टाल दिया।

बल प्रयोग भी हुआ - वार्ड नं० 5 में, जिसमें किशन पटनायक इत्यादि लोग मौजूद थे। संभवत: 2 अक्तूबर की बात है कि जब हम लोगों को अपने वार्ड में हाहाकार सुनाई दिया, पुलिस और कैदियों में भी कुछ भगदड़ दिखाई दी तो अपने वार्ड से बहुत उछल उछल कर, झांक कर देखने पर पता चला कि उस दिन उस वार्ड में लाठी चार्ज किया जा रहा है। मेरे साथ जो लोग थे, उनमें से कुछ के साथ भी बल प्रयोग हुआ। मेरे साथ सीधा कोई बल प्रयोग नहीं हुआ।

इसके बाद विकासशील देशों के संदर्भ में प्रेस की स्वतंत्रता को आप किस तरह से देखते हैं, इस प्रश्न के जवाब में राठी ने बताया कि प्रेस की स्वतंत्रता आज के शायद सबसे बड़े सवालों में से एक है। इस स्वतंत्रता की रक्षा कई पक्षों को करनी होगी। सवाल केवल सरकारी हस्तक्षेप का नहीं है। पत्रकारों का भी सवाल है। क्या वे वास्तविक खबरों या जनहित में लगी पाबंदियों को स्वीकार करने को तैयार हैं? क्या ऐसी पाबंदियों को स्वीकार करने पर जो दिक्कत होगी - जैसे नौकरी छूटना और हिरासत, इन के लिए वे तैयार हैं।

तीसरा पक्ष मालिकों का है। अगर तीनों ही पक्ष ये बात महसूस करें कि किसी भी समाज को स्वस्थ बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि गोपनीयता कम से कम हो। विचारों का खुला आदान प्रदान हो ताकि जनमत बिना किसी बाधा के किसी निष्कर्ष पर पहुंच सके तो इस रोग से छुटकारा मिल सकता है। सबसे अहम भूमिका तब भी पत्रकारों की होगी। यदि वे इस

पर दृढ़ हों कि गैर कानूनी, अनैतिक, या धमकी भरी किसी भी पाबंदी को वे स्वीकार नहीं करेंगे, तो परिदृश्य पूरी तरह से बदल सकता है ।

ज़ाहिर है इसमें जनता, राजनीतिक दलों और दूसरी सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाओं का भी बड़ा रोल होगा । लेकिन अगर पत्रकार खुद अपना मुंह बंद करने की इजाजत दे देंगे तो बाकी कोई भी संस्था उन्हें आजाद नहीं कर सकती ।

आपातकाल के बाद हिंदी पत्रकारिता की स्थिति पर चर्चा करते हुए गिरधर राठी कहते हैं कि आपातकाल के बाद हिंदी पत्रकारिता का कायाकल्प हो गया । अगर आप आपातकाल के पहले तक की पत्रकारिता देखें - जिनमें सबसे स्वर्णिम पृष्ठ तो शायद स्वतंत्रता के पहले के वर्षों के हैं, जहां इलाहाबाद से निकलने वाली एक पत्रिका सरेआम यह विज्ञापन देती थी कि मुझे एक संपादक चाहिए जो फांसी पर चढ़ने को तैयार हो । और इस विज्ञापन के जवाब में उसे सैकड़ों पत्र मिले । (इस पत्रिका का नाम आप याद नहीं कर सके, उन्होंने बताया कि यह बात मुझे इतिहासकार बी. डी. पाण्डेय ने बतायी थी ।) लगातार एक के बाद कई अंकों में यह विज्ञापन छपा था । यह एक बहुत रोमांटिक तथ्य है । लेकिन अगर इस तरह की एकल ध्येयनिष्ठ पत्रकारिता की बात छोड़ भी दें - जहां आजादी पाना ही एक सर्वोच्च लक्ष्य था । तो भी स्वतन्त्रता के बाद की पत्रकारिता में ऐसे अनेक प्रसंग आये जिनमें पत्रकारों ने बहुत कुछ दांव पर लगाया । आपातकाल से पहले तक पत्रकारिता में बहुत लोभ लालच नहीं था । न तो बहुत ऊंची तनख्वाहें थीं और न मौजूदा पैमाने का भ्रष्टाचार था जिसमें एक मामूली सा रिपोर्टर भी करोड़ों की संपत्ति बनाने में लगा है ।

लोभ लालच थे भी, तो बड़ी सात्विक किस्म के । दूसरा यह कि उस दौर में आदर्श पूरे मिटे नहीं थे । ढीले अवश्य हो गए थे । हर दो तीन साल में आदर्शों की स्थापना की एक नई कोशिश होती थी । इन सारी कोशिशों से आप सहमत चाहे न हों । भारत-चीन युद्ध के बाद एक बड़ी कोशिश । 1965 के आसपास फिर एक बड़ी कोशिश हुई । 1968 में फिर बड़ी कोशिश हुई ।

1969 में कांग्रेस में टूट-फूट के कारण फिर बड़ी कोशिश हुई । 71-72 में बांग्ला देश युद्ध के संदर्भ में फिर एक बड़ी कोशिश हुई । 73-74 में तो आप देख ही रहे हैं कि गुजरात और बिहार में छात्र आंदोलन शुरू हुआ, उसके बाद जयप्रकाश आंदोलन आया, और संपूर्ण क्रांति आंदोलन आया जिसे रोकने के लिए आपातकाल लगाया गया। इन कोशिशों में पत्रकार भी शामिल थे । पूरी तरह से वे राजनीतिक दलों के सदस्य नहीं बने थे, बनना भी नहीं चाहते थे ; कुछेक अपवादों को छोड़ कर|लेकिन कुछ आदर्शों को लेकर वे अलोकप्रिय किस्म के कार्यक्रमों और लोक नेताओं के साथ खड़े रहने को तैयार रहते थे ।

आपातकाल के बाद कुछ बहुत ही विचित्र किस्म की पत्रकारिता शुरू हुई । ऊंची तनख्वाहें दी जाने लगीं । ऐसे लोगों को पत्रकार-संपादक बनाया जाने लगा, जिनके नेताओं (खासकर सत्ताधारी) से सम्बन्ध होते थे । आदर्श और मूल्य नहीं रह गए । वरन सनसनी फैलाने और इसके द्वारा अखबार बेचना ही सबसे बड़ा उपलब्धि का और सफलता का पैमाना बन गया । और भाषा को अब जैसे उन्होंने एक उपकरण तक मानना बंद कर दिया । ऐसे प्रसंग जिनके साथ गहरे राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विमर्श जुड़े हों, उनके बजाय ऐसे प्रसंग उछाले जाने लगे जिनकी चर्चा राजनैतिक नेताओं द्वारा संसद और विधान-सभा में हो सकती हो, और आम जनता को भी कुछ चटपटा पढ़ने को मिले । इस पत्रकारिता ने गहराई को अपना दुश्मन माना तथा सतहीपन और चालूपन को ही अपना उद्देश्य बनाया। इस दौर में रघुवीर सहाय का दिनमान अपवाद रहा, जिसने ऐसे अछूते और नये प्रसंग उठाये जिनकी ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा था । साथ ही नितांत अबोध और नवसुखर लोगों को पत्रकारिता की गहराई दिखाई और गांवों और कस्बों में सैंकड़ों नए पत्रकार तैयार करा लिए । जिनमें से कई लोग आज भी पत्रकारिता में या जनहित कार्यों में ईमानदारी से जुड़े हुए हैं।

दिलचस्प बात यह है कि आपातकाल में हालांकि बहुत कम पत्रकार जेल गए और बाहर भी बहुत कम को कुछ नुक्सान उठाना पड़ा। (इसमें अंग्रेज़ी सहित पूरी देशीय पत्रकारिता शामिल है)। अव्वल तो यह कि उन्हें यह आभास तक नहीं था कि आपातकाल आ सकता है। इस तरह के मुगालतों में रहने वाले लोगों में कुलदीप नैयर और वी. जी. वर्गीज जैसे लोग शामिल हैं। और जब आपातकाल आ गया तो इसकी क्या क्या परिणतियां हो सकती हैं, उसका भी उन्हें गुमान नहीं था। पर उन्नीस महीनों तक जब आपातकाल बना रहा तो अधिकांश पत्रकारों का साहस छिन गया। दूसरे यह भी हुआ कि जिन लोगों ने आपातकाल के समय खुलकर सरकार का प्रचार किया और साथ दिया, उनको सरकार ने तरह तरह से उपकृत किया। तो एक ओर भय, दूसरी ओर लालच इन दोनों चीजों ने आम पत्रकार की मानसिकता बदल दी। परवर्ती विकास या विकृतियां काफी हद तक इन दो प्रवृत्तियों का नतीजा शायद हों।

साथ ही गिरिधर राठी आपातकाल को महज हादसा नहीं मानते। दरअसल किसी भी समाज में किसी भी क्षण अनेक धाराएं चलती रहती हैं और अंतत: कौन सी धाराएं मिल कर किस महाधारा में बदल जायेंगी, इसकी भविष्यवाणी आसान कभी नहीं होती। ... बांग्ला देश बनने के बाद इंदिरा गांधी का वर्चस्व जिस तरह से बढ़ा और उससे पहले कांग्रेस पार्टी सहित विभिन्न संस्थाओं को जिस तरह रक्तशून्य, दुर्बल और क्षीण बनाया और इस तरह से चापलूसों को एक तरह से पूरी बागडोर संभला दी। उसके बाद और ऐसे अनेक कारणों से कोई भी देख सकता था कि आपातकाल जैसी स्थिति पैदा हो सकती है।

आपातकाल हटाने के पीछे राठी अनेक कारण देखते हैं। वास्तविक कारण क्या है, उनके अनुसार यह बताना कठिन है। क्योंकि इतिहास की बातें हम चाहे जितनी कर लें, हमारे अपने समय में जो चीजें घटित हो रही हैं, उन के पीछे कौन कौन सी शक्तियां किस रूप में सक्रिय हैं, यह हमें ज्ञात नहीं होता। गोपनीयता का गाढ़ा परदा राजनीतिक समकालीन धाराओं पर पड़ा रहता

फिर भी आपातकाल के हटने के दो तीन कारण समझ में आते हैं । प्रथम तो यह कि इंदिरा गांधी के गुप्तचर सूत्रों से तथा चूंकि मुक्त प्रेस उपलब्ध नहीं था, इसलिए चापलूस किस्म के पत्रकारों के माध्यम से मिली सूचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि उनका आपातकाल परम सफल है, लोगों ने उसे स्वीकार कर लिया है, इसलिए उन्होंने सोचा कि क्यों न चुनाव कराके इसकी वैधता स्थापित करें । दूसरा कारण यह था कि संजय गांधी को वे अपना उत्तराधिकारी घोषित तथा वैद रूप से स्थापित कर देना चाहती थीं । और इसके लिए चुनाव में सफलता एक बहुत बड़ा कवच साबित हो सकते थे । तीसरा कुछ गलत सूचनाओं के कारण और कुछ अपने पुराने प्रशिक्षण के कारण भी पूरी तरह तानाशाह नहीं हो पाईं । क्योंकि अगर वे पूरी तरह तानाशाह होतीं तो कतई चुनाव नहीं करातीं । जरा सी लोकतांत्रिक इच्छा ने भी उन्हें इस ओर प्रेरित किया । बाकी यदि विदेशी शक्तियों का भी दबाव रहा हो तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा । और यह दबाव अमरीका तथा इंग्लैण्ड का ही हो सकता है । क्योंकि रूस तथा रूस पंथी भारतीय पूरी तरह से आपातकाल के भक्त थे ।

अगर आपातकाल न होता तो ? इस प्रश्न के जवाब में गिरधर राठी कहते हैं कि अगर आपातकाल न आया होता तो उस समय जयप्रकाश के नेतृत्व में जो सबसे बड़ा आंदोलन चल रहा था, जिसमें सम्पूर्ण विपक्ष शामिल था, उसके अलावा अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाएं जिसका समर्थन करती प्रतीत हो रही थीं, तो एक दूसरी ही तरह की राजनैतिक सत्ता अस्तित्व में आयी होती । क्योंकि उस स्थिति में भ्रष्टाचार कुछ कम हुआ होता, अधिक लोकहितकारी नीतियां अपनाई गई होतीं । विदेशी धन और राजसत्ता की गुलामी के जो लक्षण दिखाई दे रहे थे, उसमें कुछ कमी आई होती । सबसे बड़ी बात यह

होती कि आम जनता में एक नई तरह की निर्भीकता पैदा होती, जैसी कि केवल गांधी के नेतृत्व में आजादी की लड़ाई के दौरान पैदा हुई थी । और उसके साथ कुछ नैतिक मूल्यों पर बावजूद तमाम पाखण्ड के अधिक जोर दिया जा सकता ।

यह पूछा जा सकता है कि बीस महीने बाद जब उन लोगों की सरकार बनी, जिन्होंने यह आंदोलन चलाया था, उन्होंने क्या किया । मुझे लगता है कि इन उन्नीस महीनों के अंतराल ने उन सभी नेताओं और राजनीतिक दलों को भी दहशत से भर दिया होगा । दहशत तो यह भी थी कि रूस और चीन की तरह लोग दस-दस बीस-बीस बरस जेल में रहें और शुद्ध तानाशाही चलती रहे । इसलिए एक तरह की हड़बड़ी भी विभिन्न शक्तियों और राजनैतिक दलों में देखी गई है । अपने ढंग से कुछ अच्छे काम भी उठाये गए । लेकिन आपसी होड़ और व्यक्तिगत स्पर्धा और राग-द्वेष कुछ इस तरह से बढ़े कि उनका एक समग्र प्रभाव सरकार की कार्य-क्षमता पर पड़ा । जनता पार्टी में अनेक दल शामिल थे जिनमें गहरे राजनीतिक मतभेद थे । उनमें दो तीन दल व सदस्य तो निश्चित ही चाहते थे कि उनका अपना एकाधिकार हो । इसलिए यह प्रयोग विफल हो गया । और इसके साथ पूरे भारतीय जनता ने जो नया जोखिम उठाया था ताकि एक मिली जुली सरकार को कार्य करने का मौका मिले, उसे असफल होता देख जनता के मन में निराशा पैदा हुई ।

साहित्यकार और संपादक राजेन्द्र यादव से बातचीत[1]। राजेंद्र यादव आपातकाल के समय ...

राजेंद्र यादव मानते हैं कि विकासशील देशों में सही सूचना नहीं मिलती है। सूचना पाने और सूचना दे पाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। पर राजेंद्र यादव यह भी मानते हैं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अपरिमित नहीं हो सकती है। अभिव्यक्ति जिम्मेदारी और विवेकपूर्ण होनी चाहिए। वैमनस्य फैलाने की छूट आपको नहीं दी जा सकती।

भारत के संदर्भ में राजेंद्र यादव का कहना है कि सामंतवाद अथवा सामंती प्रवृत्तियों से मुक्त होना हिंदी के पत्रकार के लिए सबसे बड़ी और पहली शर्त है।

राजेंद्र यादव मानते हैं कि सेंसर सिर्फ राज्य और सरकारें ही नहीं डालतीं, वरन् सारी सत्ताएं - धार्मिक, आर्थिक, लैंगिक सत्ताएं सेंसर आरोपित करती हैं।

आपके अनुसार आपातकाल के बाद समाज में एक भयंकर पाठकीयता और सजगता आई है।

आपके आपातकाल में सरकार के खिलाफ कुछ नहीं लिखा जा सकता था। आपातकाल कितना अतार्किक था इसका उदाहरण आप बताते हैं कि हिंदी के लेखक रघुवंश को इस बिना पर हिरासत में रखा गया कि ये खंभे पर चढ़ कर तार काट रहे थे। जबकि रघुवंश के कुहनी के ऊपरी भाग तक ही हाथ के नाम पर है। इसलिए वे पैर से ही लिखते हैं।

---

(1) दरियागंज स्थित उनके साहित्यिक मासिक 'हंस' के कार्यालय में, दिनांक 26 जून 1997 को सायं 5 बजे।

आपातकाल में हिंदी पत्रकार की भूमिका पर वे बताते हैं कि हिंदी का पत्रकार खतरनाक अभिव्यक्तियों से हमेशा बचा है । वह आर्थिक रूप से सुदृढ़ नहीं है, निम्न मध्यम वर्ग से आया है । उसे नौकरी आसानी से नहीं मिली है, इसलिए वह जोखिम लेने से बचता है । खतरे यंग लोगों ने उठाये हैं ।

जबकि अंग्रेजी का पत्रकार सम्पन्न वर्ग से आया है । उसके लिए नौकरी जीवन गुजारा का एक मात्र साधन नहीं होती है । उसे एक के बाद दूसरी नौकरियां सहज ही मिलजाती हैं, इसलिए वह जोखिम लेने से घबराता नहीं है ।

साहित्य पर आपातकाल के प्रभाव की चर्चा करते हुए आप बताते हैं कि उत्तर भारत का साहित्यकार घटनाओं पर सीधे रियक्ट नहीं करता । आपातकाल पर भी मात्र निर्मल वर्मा का उपन्यास है `रात का रिपोर्टर`, जो कि बहुत वजनी नहीं है ।

* `जनसत्ता` में अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रम के प्रभारी तथा सहायक संपादक और आपातकाल के समय `दिनमान` में उपसंपादक रहे जवाहरलाल कौल ने पत्रकारिता और आपातकाल से जुड़े विभिन्न मुद्दों पर विस्तृत साक्षात्कार[1] दिया --

जवाहरलाल कौल मानते हैं कि समाचार पत्रों की कोई तय भूमिका नहीं होती है। सामाजिक संदर्भ बदलने से बदल जाती है। ऐसी कोई आचार संहिता नहीं है जहां यह बांधी जा सके।

उदाहरण के लिए आजादी की लड़ाई के दौरान पत्रकारिता ने आंदोलन का साथ दिया। लेकिन आजादी के लक्ष्य की प्राप्ति के बाद यह भूमिका बदल गई। अब एक ही कोई लक्ष्य नहीं रहा। अब सत्ता अपनों के पास थी। भूमिका में विविधता आ गई। कुछ सत्ता के साथ थे। कुछ विरोध में। विरोध में थे - भाषा, विचारधारा, क्षेत्रीयता आदि। समर्थन को भी विभिन्न कारकों ने प्रभावित किया। कुछ राजनैतिक दलों के साथ, कुछ नौकरशाही, कुछ आधुनिकता तथा पश्चिम के साथ रहे। जितने प्रकार की सत्ताएं उतने प्रकार के समर्थन व विरोध।

दिनमान के बारे में कौल मानते हैं कि दिनमान ने अपेक्षित भूमिका नहीं निभायी। दिनमान जनवादी पत्रिका थी, स्वाभाविक रूप से यह सत्ता के साथ नहीं थी। परआपातकाल के बाद वो तेवर नहीं रहा, इसकी सबसे बड़ी वजह थी कि वो एक बड़े अखबार समूह की पत्रिका थी। समूह ने जो समझौते किए, इनका निर्वाह करना मजबूरी था। इसलिए बीच का रास्ता निकाला गया, जिसमेंमुखर विरोध भी न हो औरसमर्थन भी न हो। लेकिन एक मायने में यह एक तरह का मूक दर्शन था। इस द्रविड़ व्यायाम में काफी मेहनत लगती थी। कोशिश की जाती थी कि मूल कथ्य उसमें आये, पर मारक रूप में नहीं। टाइम्स गुप की एक भी पत्रिका ने स्वतंत्र दायित्व नहीं निभाया। हां, `एक्सप्रेस गुप`ने अवश्य सरकार विरोधी रुख अपनाया।

जवाहरलाल कौल सभी विकासशील देशों को प्रेस की स्वतंत्रता के संदर्भ में

(1) जनसत्ता के अपने दफ्तर में 24 जून 1991 को सांय 4 बजे।

एक ही साथ नत्थी करने के सहमत नहीं हैं । आपके अनुसार भारत के प्रेस को, इण्डोनेशिया, अफ्रीका, अरब प्रेस से तुलना करना बेहूदा है । भारत का प्रेस इन सबसे कहीं अधिक स्वतन्त्र है । भारत में लोकतांत्रिक रुझान स्वभावगत है, कोई मशक्कत उसके लिए नहीं करनी पड़ी । विविधता की वजह से अनेक विचार पहले से रहे हैं, एक लोकतांत्रिक मानस इस वजह से यहां पहले से रहा है। भारत में प्रेस की आजादी, लोकतंत्र की आजादी पश्चिम जैसी ही है । संविधान में जो अभिव्यक्ति की धारा है उनमें पत्रकारों पर कोई कानूनी बन्धन नहीं है जितना आलोचनात्मक रवैया भारत के समाचार पत्र अपनाते हैं, वो पश्चिम से कम नहीं है ।

भारत में प्रेस ज्यादा निरंकुश है । यहां किसी व्यक्ति के बारे में तथा सार्वजनिक बातों पर छपने का अधिकार प्रेस को है, पर व्यक्ति को भी यह अधिकार है कि वह अपने मामले में हस्तक्षेप न करने दे । लाइबेल, डीफेमेशन कानून के बावजूद प्रेस व्यक्ति के बारे में लिखता है । पर यहां प्रेस पर, पत्रकार पर कार्यवाही की संभावना पश्चिम की अपेक्षाकृत बहुत कम है । पश्चिम में प्रेस को यह सब आजादी है, पर वहां उसके खामियाजा भुगतने की भी उतनी ही संभावना है ।

प्रेस पर विभिन्न सेंसरों की चर्चा करते हुए जवाहरलाल कौल बताते हैं कि समाचार उद्योग एक पूरक उद्योग के रूप में विकसित हुआ है । लगभग सभी बड़े अखबार बड़े औद्योगिक समूहों के अखबार हैं, जिनके और भी व्यवसाय हैं । इस तरह समाचार उद्योग एक स्वतन्त्र उद्योग के रूप में विकसित नहीं हुआ है ।

चूंकि मालिकों के अपने व्यवसाय होते हैं, अतः उनके हितों की रक्षा के लिए यदा कदा ऐसे बन्धन होते हैं । यह बात दुनिया भर के समाचार-पत्रों पर लागू होती है ।

आज अखबार निकालना लाखों और करोड़ों नहीं, अरबों रुपयों के

निवेश की मांग करता है । इसलिए बड़े औद्योगिक समूह ही समाचार पत्र चला सकते हैं । जिस समय समाचार पत्र सस्ते में निकालना संभव था, उस समय इतने बन्धन नहीं थे ।

इस महाद्वीप में भारत के अखबार विज्ञापनदाताओं पर सबसे ज्यादा निर्भर करते हैं । पाकिस्तान में जंग और नवाए वक्त उर्दू के सबसे बड़े अखबार हैं, दोनों का प्रसार 6 लाख से ऊपर है और कीमत सात रुपये । हमारे देश में अखबार की कीमत घटा कर उसे नगण्य बना दिया गया है । अखबार की कीमत 80 प्रतिशत से 90 प्रतिशत विज्ञापनदाता चुकाते हैं । इसलिए विज्ञापन दाता `डिक्टेट` करता है ।

पाठक समाचार पत्र (मालिक-कर्मचारी आदि) के अन्नदाता नहीं हैं, यह इसलिए उनका महत्व घट गया है । पाठक की जरूरत विज्ञापनदाता को है, इसलिए पाठक का महत्व विज्ञापनदाता के लिए है । `पाठक` की जरूरत, `पाठक` के रूप में नहीं रह गई है । इस तरह पाठक की हैसियत विशुद्ध `उपभोक्ता` की हो गई है और समाचार पत्र सिर्फ एक उपभोग की वस्तु । इस तरह रिश्ते विकृत हो चुके हैं ।

पर समाज की मर्यादाओं को सेंसर नहीं कहा जा सकता । आप उसकी मर्यादाओं को नहीं मानेंगे तो वह आपको नहीं पढ़ेगा । अगर आप `मास` का समाचार पत्र चाहते हैं तो उस समाज का `रीप्रजेन्टेशन` करना पड़ेगा ।

आपातकाल के बाद पत्रकारिता और पत्रकार की स्थिति पर चर्चा करते हुए कॉल बताते हैं कि अब अंग्रेजी की देखा-देखी हिंदी पत्रकारिता बाजारोन्मुख हो गई है । पत्रकार भी अब अखबार नवीसी को एक कैरियर के रूप में देखते हैं । व्यापक सामाजिक उद्देश्य उनके नहीं हैं ।

`ग्लोबलाइजेशन` और बाजार में इस समय में कंपनियों ने बड़े दामों पर

`टेलेन्ट` खरीदना शुरू कर दिया है । इसलिए पिछले पांच दस सालों में तनख्वाहें बढ़ी हैं ।

अखबार एक `प्रोडक्ट` हो गया है, जैसे साबुन बनाना । जब ऐसी स्थिति है तो उस पर बाजार के नियम लागू होंगे । अखबार का `रोल` संदिग्ध हो गया है । असर तो डालते हैं, पर यह किस प्रकृति का है, यह नहीं कहा जा सकता ।

पत्रकार की स्थिति पर आपका कहना है कि यहां भी बाजार के नियम लागू होते हैं । जो समाचार पत्र सम्पन्न हैं, उनके कर्मचारी वर्ग भी सुरक्षित हैं, सम्पन्न हैं । जो उद्योग मरणशील हो उसके कर्मचारी भला कैसे अमीर हो सकते हैं ।

आपातकाल तथा सेंसरशिप के कारणों पर बात करते हुए जवाहरलाल कौल कहते हैं कि शासक का लोकतंत्रात्मक नियमों के अनुसार जब नियंत्रण संभव नहीं होता तो वह सर्वसत्तात्मक हो जाता है । कभी यह विचार के आधार पर किया जाता है, कभी यह धर्म के । सूचनाओं के स्रोतों पर नियंत्रण और उनको बंद करना इसका अनिवार्य अंग होता है । कोशिश यह होती है कि सामान्य जीवन स्तर पर जीवन की सुविधा तो हो, पर विचार स्वातंत्र्य को नहीं पनपने दिया जाए ।

आपातकाल उठाये जाने के बारे में आपका कहना है कि आपातकाल अपनी ही विसंगतियों की वजह से टूटा । आप कितना ही अच्छा सेंसर लागू करें, वह मनुष्यों द्वारा लागू होता है । दूसरे, सेंसर यांत्रिक हो गया था, जैसे कि मुझे मालूम था कि वह क्या काटेगा, इसलिए उस तरह से लिखा ही नहीं ।

दूसरे, इंदिरा गांधी की जो डिक्टेटरशिप थी, वह लाजिकल नहीं थी । हिटलर और स्टालिन के साथ भी लोग नहीं थे, पर यहां सेंसरशिप विचारधारा के स्तर पर थी । इंदिरा शासन की सेंसरशिप में लक्ष्यहीनता थी । वह व्यक्ति स्तर पर थी । पर इस विविधतामय देश में यह संभव नहीं था । अगर सेंसरशिप साल भर और चली होती तो अपने आप टूट गयी होती ।

जवाहरलाल कौल के अनुसार पत्रकारों पर सबसे ज्यादा दबाव था - मानसिक दबाव । जो वे चाहते थे, वो लिख नहीं पाते थे । मालिकों के दबाव भी थे । बड़े अखबारों पर ज्यादा दबाव थे । छोटे अखबारों ने इस समय बेहतर भूमिका निभायी । उन्होंने साहस दिखाया तो उन्हें कानूनी शिकंजे में फंसा दिया गया । कुछ पर बाद में भी मुकदमे चलते रहे । मानसिक तनाव सबसे प्रमुख था । `दिनमान` का संपादक रघुवीर सहाय आपातकाल के बाद टूटा हुआ व्यक्ति था । उसके बाद उसका स्वास्थ्य सुधर नहीं सका ।

जवाहरलाल कौल मानते हैं कि आपात काल एक `एबेरेशन` था, जिस का समाज लोकतंत्र पर कोई फर्क नहीं पड़ा । अगर यह न भी आया होता तो भी कोई फर्क नहीं आया होता । हां, कांग्रेस पार्टी जितने जल्दी बिखर गयी, उतने जल्दी न बिखरी होती ।

* `नवभारत टाइम्स` के सहायक संपादक तथा आपातकाल के समय `दिनमान` के उपसंपादक विनोद भारद्वाज से बातचीत[1]--

फिल्म इण्डस्ट्री पर आपातकाल के प्रभाव से अपनी बात शुरू करते हैं भारद्वाज। `किस्सा कुर्सी का` जैसी फिल्में अपवाद ही हैं, अन्यथा फिल्म कला सरकार पर पूरी तरह से निर्भर करती है। सरकार के विपरीत रुख इसने कभी नहीं किया। ये लोग इस तरह के जोखिम कभी नहीं लेते हैं।

`दिनमान` और सेंसर की चर्चा करते हुए भारद्वाज बताते हैं कि हम लोग जो लिखते थे, उसे सेंसर के पास भेजते थे। और जहां तक मेरा सवाल है, मैं राजनीतिक विषयों पर नहीं लिखता था वरन् कला और आधुनिक विचार आदि विषय थे मेरे। मुझे ऐसा कुछ याद नहीं आता कि मेरा कुछ सेंसर हुआ हो। रघुवीर सहाय को अवश्य आपातकाल ने तोड़ दिया। विश्वंभरनाथ श्रीवास्तव, जो कि रघुवीर सहाय के पी. ए. थे, को जेल जाना पड़ा था। विश्वंभर नाथ का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की तरफ झुकाव था।

विनोद भारद्वाज भी इससे सहमत हैं कि `दिनमान` से जो भूमिका अपेक्षित थी, वह उसने नहीं निभायी। उनका मानना है कि बड़े संस्थानों के समाचार पत्र ज्यादा रिस्क नहीं लेते हैं। अगर बड़े संस्थानों के समाचार पत्र राजनैतिक पोस्टर की तरह वक्तव्य देता है तो प्रबन्धक उसे पसन्द नहीं करते हैं। रघुवीर सहाय ने दिनमान को जनता से जोड़ने की इच्छा से पाठकों के सामने ऐसा पेश करने की कोशिश की, पर प्रबन्धक पत्रकार की इस भूमिका को कभी पसन्द नहीं करते हैं।

हां, यह सही है कि आपातकाल के बाद मैनेजमेंट का हस्तक्षेप और वर्चस्व लातार बढ़ा है। लेकिन कई पत्रकार ऐसे हैं जो इसका मुकाबला करते रहते हैं।

निजी पत्रकार की दिक्कत यह है कि वह गणेश शंकर विद्यार्थी से अपने

(1) नवभारत टाइम्स के उनके कार्यालय में दिनांक 24 जून 1997 को सायं 3 बजे।

जोड़ लेता है । लेकिन अधिकांश या तो मालिकों के प्रवक्ता बन जाते हैं या राजनैतिक दलों के । पत्रकारों को मंच चाहिए, `वैक्यूम` नहीं । जनता के पैसे पर समाचार पत्र नहीं चल सकता । इसलिए राजनीतिक तंत्र पत्रकारों को तरह तरह के प्रलोभन देकर फुसलाता रहता है । और पत्रकारों का एक बड़ा वर्ग इसका शिकार भी हो जाता है । मेरे विचार से कुछ पत्रकार अपने आप को पुलिस की तरह समझने लगते हैं । जिस तरह से एक दरोगा `पोल सेन्स आफ पावर` से लोगों पर रोब जमाता है, उसी तरह से पत्रकार भी शक्ति की इस भ्रामक धारणा के शिकार हो जाते हैं ।

पिछले वर्षों में पढ़ने लिखने के प्रति पत्रकारों का रुझान लगातार घटा है । तथाकथित शुद्ध पत्रकार लेखक-पत्रकारों से बहुत चिढ़ता है । लेकिन हिंदी का जहां तक सवाल है, आपातकाल के पहले या बाद के काल में हिंदी लेखकों ने ही सबसे अधिक प्रामाणिक और महत्वपूर्ण पत्रकारिता की है । इसका कारण यह है कि अनेक युवा लेखकों ने अध्यापन को पेशा न बनाकर पत्रकारिता को अपना पेशा बनाया है, इसलिए इन लेखक-पत्रकारों ने समझौते भी कम किये हैं, तथा साहस भी अधिक दिखाया है । मिसाल के लिए रघुवीर सहाय तथा सर्वेश्वर ने कई मौकों पर साहसपूर्ण ढंग से लिखा है ।

श्रीकांत वर्मा जैसे अपवाद भी हैं जिन्होंने इंदिरा भक्ति को पत्रकारिता की शक्ति में बदल दिया था । लेकिन बाद में श्रीकांत वर्मा ने अपनी कविताओं में आपातकाल में अपनी भूमिका को लेकर पश्चाताप् भी किया । हिंदी में लेखक पत्रकार के रोल पर विस्तार से अध्ययन की जरूरत है ।

* `नवभारत टाइम्स` के `सहायक संपादक` तथा आपातकाल के समय `दिनमान` में `उपसंपादक` रहे प्रयाग शुक्ल से बातचीत --

आपातकाल का `दिनमान` पर बहुत साफ प्रभाव था । सेंसरशिप के नियमों का पालन किया जा रहा था । चूंकि `दिनमान` बड़े संस्थान की पत्रिका थी, इसलिए उस पर मालिकों की ओर से भी सेंसर के आदेश पालने का आग्रह था । यह एक जानी-मानी बात है कि बड़े संस्थान की पत्रिकाएं `रिस्क` नहीं लेती हैं । प्रकाश्य सामग्री को सेंसर अधिकारी के पास भेजा जाता था । वहां से जो सामग्री स्वीकृत होती थी, उसको प्रकाशित किया जाता था । जहां तक मुझे याद है बहुत कम सामग्री सेंसर होती थी, जिससे साफ होता है कि थोड़ी बहुत सावधानी खुद संपादक बरत रहे थे ।

आपातकाल का सीधा विरोध हम लोगों ने नहीं किया, पर आपात-कालीन मूल्यों का विरोध हमने प्रकारांतर से किया । जैसे मैंने कार्ल पापर पर एक लेख लिखा था । उल्लेखनीय है कि कार्ल पापर `द इनिमीज ऑफ ओपन सोसायटी` जैसी पुस्तकों के लेखक हैं । पर वे कुछ पश्चाताप सा महसूस करते हुए कहते हैं कि आपातकाल में हम लोगों से लिखा नहीं गया, मुझसे भी नहीं लिखा गया ।

विरोध का एक और उदाहरण देते हुए वे बताते हैं कि दसवीं अथवा बारहवीं की परीक्षा के परिणाम में दिल्ली के किसी गांव की लड़की ने प्रथम स्थान पाया था । रघुवीर सहाय ने उसका साक्षात्कार लेने का निश्चय किया । उस लड़की की तस्वीर हम लोगों ने `दिनमान` के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित की थी ।

रघुवीर सहाय के बारे में याद करते हुए प्रयाग शुक्ल बताते हैं कि वे बहुत बे-चैन थे। रघुवीर सहाय ने बिहार के एक पाठक की चिट्ठी के हवाले से बताया था कि पाठक हमसे कुछ और अपेक्षाएं कर रहे हैं । इस पाठक ने

लिखा था कि अगर आपकी कलम में अब ताकत नहीं रह गई है तो उसे रख दीजिए ।

फिर कुछ सोचते हुए से वे कहते हैं कि हम लोग जेल तो नहीं गए, पर ऐसा नहीं है कि जरूरत पड़ने पर हम जेल न जाएं ।

अपने एक सह-कर्मी और सह-धर्मी श्रीकांत वर्मा के बारे में वे बताते हैं कि श्रीकांत जी कांग्रेस के महासचिव हो गए थे तथा इंदिरा गांधी के भी बहुत समीप थे । इस सबसे हमें अचंभा होता था । श्रीकांत जी से इस सबसे मेरे संबंध तात्कालिक रूप से खराब हुए । श्रीकांत जी को भी इस सबसे एक नैतिक कष्ट था, जिसको उन्होंने बाद में स्वीकार भी किया ।

पर रघुवीर सहाय को आपातकाल ने तोड़ दिया था । सिर्फ मन और मस्तिष्क पर ही वे आपातकाल को नहीं झेल रहे थे, वरन् वे शरीर से भी रुग्ण हो गये थे इस समय । आपातकाल ने उनके शरीर और मन दोनों को प्रभावित किया । रघुवीर सहाय ने लोठार लुत्से से एक बहुत मार्के की बात कही थी, ये आपातकाल के काफी बाद की चर्चा है । प्रयाग जी सोचते हुए बताते हैं, 'आज मैं अपने को बहुत अकेला पाता हूं । आज मैं किसी राजनीतिक दल से न समर्थन पा सकता हूं, न दे सकता हूं । आपातकाल के पहले तक ये लगता था कि कुछ राजनीतिक मंच ऐसे हैं जिनका मैं प्रयोग कर सकता हूं । आज मैं बिलकुल अकेला हूं ।'

लेकिन प्रयाग जी इसका विरोध करते हैं कि रघुवीर सहाय आपातकाल के बाद कवि के रूप में अपेक्षाकृत समर्थ नहीं रहे हैं । वे संग्रहों के नाम गिनाते हुए - लोग भूलाए हैं ; कुछ पते ; कुछ चिट्ठियां, एक समय था, बताते हैं कि इनमें रघुवीरसहाय अपने 1975 के पूर्व संग्रहों से फीके नहीं, वरन् सबल नजर आते हैं । आपातकाल के तुरंत बाद वे हमें याद दिलाते हैं कि 'लोग भूल गए हैं ' (प्रकाशन वर्ष, 1982) तथा 'हंसो, हंसो, जल्दी हंसो '(प्रकाशन वर्ष, 1975) की कविताएं उन्हें प्रोफेटिक कवि बनाती हैं ।

प्रयाग शुक्ल आपात काल को एक बहुत बड़े दु:स्वप्न के रूप में देखते हैं। बहुत लोगों ने यह महसूस किया था कि उनकी सांस लेने वाली हवा पर पाबंदी लगायी जा रही है।

आपात काल के बाद की घुटन से निकलने के लिए रंग बिरंगी पत्रिकाएं शुरू हुईं। प्रोनोग्राफी पत्रिकाओं की ओर इशारा समझाते हुए प्रयाग शुक्ल बताते हैं कि मालिकों ने, जनता ने जश्न को गलत तरीके से मनाया। जानकारी की भूख भी आपात काल के बाद बढ़ी। पूंजीवादी रुझान बढ़ा, तो मालिकों का दबाव भी बढ़ा।

आपातकाल ने भ्रष्टाचार को बहुत प्रश्रय दिया। आपात काल के बाद भ्रष्टाचार तेजी से बड़ा है। प्रयाग जी बताते हैं कि तिहाड़ जेल में मैंने खुद अपनी आंखों से जेल कर्मियों को मिलने की व्यवस्था करवाने हेतु पैसा लेते देखा है। लेकिन फिर भी प्रयाग शुक्ल आश्वस्त हैं कि गलत काम करने वालेलोगों का साहस आज भी नहीं है कि खुल कर बोल सकें। आज भी जब कोई नैतिक काम करता है, तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। सब कुछ खत्म नहीं हो गया है।

आपातकाल के एक अन्य पहलू पर प्रकाश डालने हेतु प्रयाग शुक्ल तुलसीदास की यह पंक्ति उद्धृत करते हैं कि, 'आपातकाल परिखए चारू ; धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।' 'आपात काल' ने हमारी आंखों के सामने कई सारी बातों को साफ किया। कि किस तरह का समाज है हमारा, किस तरह लोकतांत्रिक संस्थाएं हैं हमारी, किस तरह के नागरिक हैं हम। किस तरह का व्यक्ति है कौन। परिदृश्य से धुंध और गलत फहमियों को आवरण हटा और हम अब एक नये यथार्थ के सामने खड़े थे। हमारी सीमाएं भी उजागर हुईं और ताकत भी। एक ही झटके ने बहुतेरी चीजों को साफ कर दिया।

प्रयोग शुक्ल ने यह भी बताया कि आपात काल के दस वर्ष होने पर `नवभारत टाइम्स` ने 26 जून 1985 को एक चारपेज का परिशिष्ट निकाला था, कि दस वर्ष बाद आपातकाल कैसा दिखता है । पर अब हालात यह है कि यह परिशिष्ट कहीं उपलब्ध नहीं है । खुद `टाइम्स` के पुस्तकालय में भी नहीं, क्योंकि उन्होंने भी सिर्फ अंग्रेजी के ही समाचार-पत्रों को सुरक्षित रखा है । दिल्ली के सभी जाने माने पुस्तकालय भी जैसा कि मैं पहले ही लिख चुका हूं, सिर्फ अंग्रेज़ी के समाचार पत्र रखते हैं, खास कर आपातकाल के बाद ।

अध्याय - चार

कहा - अनकहा

कहा - अनकहा

"आपातकालीन स्थिति की घोषणा अव्यवस्था के अनिवार्य और साफ धमकी के देखते हुए की गई थी जबकि चेत आग्रह के साथ संगठित प्रयत्न किए गये थे कि कामगर और किसान उत्पादन न करें और काम से दूर रहें, जबकि सरकारी कार्यालयों को ठीक से काम न करने दिया जाए, जबकि छात्रों से यह आग्रह किया जाए कि स्कूलों का बहिष्कार करो, वैध ढंग से चुने हुए विधायकों से त्यागपत्र देने का आग्रह किया जाए, जबकि खुलकर यह वक्तव्य दिया जाए कि प्रधान मंत्री को स्वीकार नहीं किया जाएगा और संसद को कार्य नहीं करने दिया जाएगा, बावजूद इसके कि सर्वोच्च न्यायालय यह आदेश दे चुका था कि 'कानूनन में प्रधानमंत्री के रूप में कार्य करने की अधिकारी हूं' और अंतत: पांच दलों के गठजोड़ द्वारा देशव्यापी नागरिक अवज्ञा का आग्रह किया गया तथा इन सबसे ऊपर पुलिस तथा सशस्त्र सेना से सार्वजनिक रूप से यह आग्रह किया गया कि आदेशों का पालन न करें, तब क्या यह स्थिति खतरनाक और चिंताजनक नहीं थी ? और ये कार्य किसी उन्मादी पागल के नहीं थे कि इनकी उपेक्षा कर दी जाए... इनको स्वीकार करने और आगे बढ़ने देने का मतलब हो सकता था कि उन बंधों को विखण्डित होने दिया जाए जिनसे देश में एका बना हुआ है।"[1] राजनीतिक रूप से मुखर मध्यम वर्ग तथा संकीर्ण आधार वाले भारतीय अभिजन की मुख्य चिंताओं और डरों को इस वक्तव्य में पढ़ा जा सकता है। तीन चार बिंदु यहां सहज ही उभर कर आते हैं - मध्यम वर्ग का असुरक्षा का भय ; भारत की एकता और अखण्डता तथा राज्य की सुरक्षा को लेकर आशंका तथा डर ; लोकतंत्र का यथास्थितिपरक

---

1. स्टरडे रिव्यू के संपादक मि० नार्मन कुजिन को 1 अगस्त 1975 को दिए गए साक्षात्कार में इंदिरा गांधी, 'इंदिरा गांधी : सिलेक्टड स्पीच, 1972-1977, प्रकाशन विभाग।

अर्थ ; केन्द्र की संप्रभुता और आम जनता की मात्र अनुकरणकर्ता तथा `सब्जेक्ट` की स्थिति । जयप्रकाश नारायण ने इंदिरा गांधी के इस प्रश्न का समुचित जवाब दिया था जिसकी मैं समुचित चर्चा तुरंत करूंगा । पर पहले इस भय के मनोविज्ञान की तह में जाना आवश्यक है ।

प्रभाष जोशी ने अपने एक साक्षात्कार[1] में प्रेस के संदर्भ में इस पर प्रकाश डाला है । स्वतंत्रता के बाद प्रेस ने कोई आलोचनात्मक भूमिका नहीं निभाई, इस डर से कि इससे भारतीय राज्य तथा इसकी नव प्राप्त स्वतंत्रता व अखण्डता कमजोर हो सकती है । यहां तक कि जो लोग आपातकाल के समर्थक नहीं थे, वे भी इसी डर से चुप बैठे रहे । मृणाल दत्त चौधरी इसको एक दूसरे कोण से देखते हैं[2] -`यह केवल विरोध से डर ही नहीं था कि हम भारतीय सफलतापूर्वक विरोध नहीं कर सके जबकि लोकतांत्रिक प्रक्रिया पूर्ण रूप से निलंबित कर दी गई थी और भद्दी अधिकारवादी घातक क्रियां पूरे देश में प्रकट हुईं । लेकिन हमें यह समझना होगा कि इस उदित होते अधिकारवाद को जो तात्कालिक सफलता मिली, वह अनिवार्य रूप से हमारे मन में गहरे बैठे भय की वजह से । हमें जो इतिहास मिला, जो हमारा भूगोल है, तथा जो समाजशास्त्र है, हम स्थिर भाव से डरे हुए हैं कि हमारी नव प्राप्त अखण्डता किसी बाहरी आक्रमण या बल से नष्ट हो सकती है या किसी आंतरिक अलाववादी शक्ति यथा सांप्रदायिक, भाषायी द्वारा नष्ट की जा सकती है । प्राय: सभी राजनीतिक दल इस समय अथवा किसी अन्य समय इस बाहरी आक्रमण की धमकी के भय को बढ़ाने के अपराधी हैं- सी. आइ. ए., चीन अथवा पाकिस्तान का, उनके अपने राजनीतिक पूर्वाग्रहों के अनुसार ।

---

1. राष्ट्रीय सहारा ; 5 जुलाई 1987 ; `हस्तक्षेप`, `आपातकाल के बाद हिंदी पत्रकारिता` पर परिशिष्ट ।
2. सेमिनार, मार्च 1977, इमेज आफ इमर्जेन्सी, पृ0 42

यह भय कि विभिन्न अपकेंद्रीय बल (केंद्र से दूर ले जाने वाले) जो इस बडे तथा भिन्नतापूर्ण देश में कार्यरत हैं, देश की एकता के नष्ट होने की दिशा में ले जा सकते हैं, ने भारत के पिछले पच्चीस वर्षों के राजनीतिक विकास को आकार देने में अत्यंत प्रभावी भूमिका निभायी है । यहां यह अभिप्राय नहीं है कि एक राष्ट्र को बाहरी आक्रमण अथवा आंतरिक युद्ध के प्रति जागरूक नहीं रहना चाहिए । लेकिन एकांत भाव से इसी भय से अभिभूत रहना यह असंभव बना देता है कि राजनीतिक संस्थाओं से कुछ कल्पनात्मक प्रयोग किए जाएं, जो कि एक सभ्य तथा न्यायपूर्ण समाज के विकास के लिए आवश्यक हैं ।

एक सतही अवलोकन भी पिछले दशक के राजनीतिक विकास का यह बात प्रकट कर देता है कि प्रशासनिक तंत्र के केंद्रीकरण की जो व्यवस्थित प्रक्रिया इस समय घटित हुई अपने प्रत्येक कदम पर इस तर्क से न्यायसंगत ठहरायी गई कि राष्ट्र राज्य के बाहरी या आंतरिक दुश्मनों के विरुद्ध एक मजबूत केंद्र की जरूरत है, जो कि इनका प्रभावशाली ढंग से सामना कर सके । भारतीय अभिजन ने कमोबेश इस तर्क को स्वीकार कर लिया है। ... इस तरह यह भी स्वाभाविक था कि 'व्यक्ति' की सत्ता भी इससे अप्रभावित नहीं रही, पूरी व्यवस्था के ऊपर शक्ति के इस केंद्रीकरण के घसीटामार ज्वार से । एक सामाजिक विज्ञानी के लिए यह एक परिचित श्रेणी है अधिकारवाद की ओर सड़क के लिए । असुरक्षा से भ्रम तक, राष्ट्रीय हित के ऐश्वर्यगान से बहुलतावादी राजनीतिक संस्कृति एवं संस्थाओं के विनाश तथा नागरिक स्वतंत्रता के दमन तक ।'

वस्तुत: अस्सी का दशक असहमति, आलोचना और आंदोलन का युग रहा । भारतीय राष्ट्र-राज्य व इसके कर्ता-धर्ता इस सब के अभ्यस्त नहीं थे । लोकतंत्र, स्वतंत्रता, राष्ट्र-राज्य, प्रेस की स्वतंत्रता - ये सब भारतीयों के लिए प्रथमत: और साथ ही सहसा प्राप्त चीजें थीं । प्रभाष जोशी के शब्दों में कहें तो 'भारतीय लोकतांत्रिक अधिकारों को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मान कर चल रहे थे ।' परिणामत: 70 के दशक तक आते-आते बढ़ती बेरोजगारी तथा कुशिक्षा, भ्रष्टाचार व चुनाव प्रक्रिया के खिलाफ व्यापक

असंतोष का वातावरण देश में था, विशेषकर स्वतंत्रता आंदोलन और उनके नायकों से अपरिचित युवा वर्ग में । जिससे लोकतंत्र में, व्यवस्थापिकाओं में, प्रेस में, खुद कांग्रेस पार्टी में, यहां तक कि न्यायपालिका में तब तक एकछत्र सत्ता प्राप्त कांग्रेस पार्टी तथा उसके नेतृत्व के खिलाफ असंतोष-असहमति के स्वर मुखर होते हैं, अपने ही द्वारा चुनी सरकार के खिलाफ तथा जनता द्वारा चुनी गई सरकार दोनों अर्थात् जनता और शासक वर्ग दोनों के ही लिए ये सर्वथा अपरिचित स्थितियां थीं, जिन्हें संवाद और बहस से सुलझाया जा सकता था लेकिन बकौल जयप्रकाश नारायण 'भ्रष्टाचार' के कारण ये सरकारें (उत्तर प्रदेश और बिहार) ऐसा नहीं कर सकीं । उल्टे संवाद और बहस के माध्यम अर्थात् प्रेस का मुंह बंद करने की कोशिश की गई । लोकतांत्रिक प्रक्रिया के दमन की कोशिश की गई, जिनको उचित ठहराने के तर्क हम इंदिरा गांधी के वक्तव्य में देख चुके हैं । उनके प्रश्न के जवाब में जयप्रकाश नारायण ने कहा था , 'प्रश्न इससे भी बड़ा है । वह यह कि समाज में व्यवस्थित परिवर्तन कैसे लाया जाए, उदाहरण के लिए जिसे मैं सम्पूर्ण क्रांति कहता हूं, उसे कैसे लाएं : समाज के प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक रूप में । प्रश्न का जवाब देना कठिनतर तब हो जाता है जब यह जोड़ा जाता है कि यह क्रांति शांतिपूर्ण ढंग से लाई जाना चाहिए, समाज के लोकतांत्रिक ढांचे को बिना कमजोर किए और लोगों के लोकतांत्रिक तरीके से जीने को बिना प्रभावित किए । इस दृष्टि से देखें, तो पूर्ण कानूनवादी तथा संवैधानिक लोकतांत्रिक व्यक्ति भी इससे सहमत होगा कि किसी के द्वारा भी यह सब नहीं किया जा सकता । अगर लोकतंत्र की प्रक्रिया को सिर्फ चुनाव, विधान सभायी गतिविधियों और उनके प्रशासनिक कार्यान्वयन तक ही सीमित कर दिया जाए । लोकतंत्र में लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी या हस्तक्षेप भी होना ही चाहिए । और यह भागीदारी अपने अन्य रूपों के अलावा नागरिक अवज्ञा अथवा सविनय अवज्ञा, शांतिपूर्ण प्रतिरोध, असहयोग संक्षेप में सत्याग्रह अपने व्यापक अर्थों के रूप में भी होगी । इस सत्याग्रह की एक अनकही व्यंजना यह है कि परिवर्तन अपने आप में अथवा स्व-परिवर्तन। जिसे कहना चाहिए कि जो परिवर्तन चाहते हैं, उन्हें पहले खुद बदलना होगा,

TH-6750

किसी भी प्रकार के परिवर्तन के प्रारंभ के पहले ।परिवर्तन करने की शुरुआत के पहले ।[1]

अस्सी का दशक लोगों की इसी परिवर्तन की चाह का युग था । लोगों का यह परिवर्तन जाहिर है समाज में ही व्यक्त हो सकता था । सत्ता के यथा-स्थितिवादी रवैये को यह न गंवार गुजरा, जिसे उसने विभिन्न शब्दजालों के बहाने आपातकाल लागू कर इस चाह के दमन की तात्कालिक रूप से सफल कोशिश की ।

आपातकाल ने अगर कुछ चीजों का दमन किया तो कुछ बातें हमारे सामने और भी साफ होकर उभरीं । प्रयाग शुक्ल अपने साक्षात्कार में आपातकाल को तुलसीदास की एक पंक्ति के सहारे इस रूप में भी देखते हैं - आपातकाल परिखिए चारू, धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी । आपातकाल ने जनता और शासक दोनों को पहली बार स्वतंत्र भारत में आमने सामने खड़ा कर दिया, जिस से दोनों की भूमि और भूमिका, दिशा और दशा, वर्तमान और भविष्य स्पष्ट होकर सामने आए । पूंजी और राज्य, जनवादियों और साम्यवादियों, लोकतंत्र और संविधान ने अपनी-अपनी जमीन समझी । समाज में परिवर्तन की जो चाह थी, उसका सबसे मुखर वाहक प्रेस ही था । आपातकाल ने पत्रकार और प्रेस मालिक तथा समाचार पत्र-पत्रिकाओं और उनके पाठक को एक दूसरे का महत्व तथा वास्तविकता स्पष्ट की । जनता अथवा लोगों को विशेषकर पहली बार समाचार पत्र - पत्रिकाओं की कीमत समझ में आई ।[2] `यह शंका से परे है कि आपात काल ने देश की राजनीतिक शिक्षा में प्रेस की स्वतंत्रता का महान पाठ पढ़ाया, जो कि इसके पहले मात्र एक अकादमिक प्रश्न था ।... यह भी

---

1. `ए रिवोल्यूशनरी क्वेस्ट`, पृ0 357 ; आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, सम्पादक - विमल प्रसाद
2. `द थर्ड वर्ल्ड एण्ड द प्रेस फ्रीडम`, पृ0 229, जार्ज वर्गीज, सेज पब्लिकेशन

महसूस किया जाता था कि प्रेस की स्वतंत्रता सिर्फ संपादक और समाचार-पत्र से सम्बन्धित कोई चीज है, आम नागरिक का इससे कोई वास्ता नहीं है। इसलिए जब सरकार प्रेस की स्वतंत्रता कम कर उसे अनुशासित करने की बात करती थी तो लोगों का लगता था कि सरकार कुछ बुरे लड़कों के समूहों, एकाधिकारवादियों को अनुशासित करने की बात कर रही है, बिना यह महसूस किए कि यह उनकी स्वतंत्रता है जो दांव पर है। आपातकाल ने उनको पहली बार पढ़ाया कि प्रेस की स्वतंत्रता उनको संविधान द्वारा दिए गये मौलिक अधिकार - भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का ही एक भाग है और जो कि सिर्फ संयोग से ही मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं की सूची में पहले स्थान पर नहीं है।'

प्रभाष जोशी[1] के अनुसार मोटे तौर पर तीन प्रवृत्तियां आपातकाल के बाद हम पत्रकारिता में देख सकते हैं। पहली प्रवृत्ति थी सत्ता प्रतिष्ठान के विरोध की। दूसरी प्रवृत्ति थी खोजी या भण्डाफोड़ पत्रकारिता की और तीसरी प्रवृत्ति के केन्द्र में वह अहसास था जिसने आपातकाल में बता दिया था कि यह मानकर नहीं चला जा सकता कि लोकतांत्रिक अधिकार और संस्थाएं कायम रहेंगी ही। इसे कायम रखने के लिए पर्याप्त उत्साह और आक्रामकता की जरूरत भी पड़सकती है। इस दौर में सत्ता पक्ष के साथ-साथ विपक्ष को भी खबरों में प्रमुखता देने की प्रवृत्ति पैदा हुई। कुल मिलाकर सरकार और राजनीति में घटने वाली घटनाओं के प्रति एक शंका की दृष्टि प्रदर्शित करने की शुरुआत हुई।'

पर इसके बरक्स पूंजी और राज्य अर्थात् सत्ता और पूंजीपति भी आपातकाल

---

1. राष्ट्रीय सहारा (हिन्दी दैनिक), 'हिंदी पत्रकारिता : आपातकाल के बाद' पर 'हस्तक्षेप' को दिए गए साक्षात्कार में प्रभाष जोशी। 5 जुलाई, 1997

के बाद अंतराष्ट्रिय स्तर पर परस्पर पास आए हैं[1], जिन्होंने पत्रकारिता और पत्रकार को भी प्रभावित किया है। इसी दौर में विश्वविद्यालयों में सबसे अधिक पत्रकारिता संकाय खुलते हैं, जिससे पत्रकारिता में प्रवेश के लिए भी सरकार से छिपी लेना आवश्यक हो गया, ताकि पत्रकार भी व्यवस्था के एक अंग तथा समर्थक के रूप में पत्रकारिता में प्रवेश करे। रामशरण जोशी इस युग के इसी पहलू पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं।[2] इंदिरा शासन के दूसरे चरण में पत्रकारिता का चरित्र बदलने लगा। क्योंकि, 1975 से ही राजनीति के लपंटीकरण की प्रवृत्ति प्रारंभ हो चुकी थी।.. और इसी दौर के साथ राजनीतिज्ञ एवं पत्रकार तथा सरकार एवं अखबारपति `परस्पर आपत्ति-जनक स्थिति` में समीप आते हैं।

---

1. रजनी कोठारी, 23 जून, टाइम्स आफ इंडिया के अनुसार आपातकाल के बाद ही राजनीति का अपराधीकरण, सांप्रदायिक राजनीति, भ्रष्टाचार का संस्थायी रूप लेने जैसी प्रक्रियाएं भी प्रारंभ हुईं। तथा `राष्ट्रीय स्व-निर्भरता तथा संप्रभुता का समर्पण जो धीरे धीरे बढ़ रहा था, की भी शुरुआत आपातकाल के बाद ही हुई। नई अर्थ-नीति तथा बहुराष्ट्रीय कंपनी के लिए दरवाजा खुलना भी इस काल की प्रारंभ है। भारतीय बाजार में पहली बहुराष्ट्रीय कंपनी, `सुजूकी`, जापान का आक्रामण जवान आदमी की (संजय गांधी) दृष्टि `सस्ती कार या जनता कार` का ही प्रतिफलन है।... पर इसके साथ ही असहमति का जो स्वर आपातकाल में देखा गया था, उसमें भी वृद्धि हुई है। नागरिक स्वतंत्रता के आंदोलन, मानव अधिकार संगठन, जागरूक संगठन और व्यक्ति आदि इसी का परिणाम हैं।
2. 27 जनवरी, 1996, सहारा, `हस्तक्षेप`, पत्रकारिता विशेषांक।

इसकी मोटी वजह यह कही जा सकती है कि प्रेस संस्थानों के आधुनिकीकरण एवं विस्तार के लिए मोटी पूंजी की जरूरत थी । सस्ती दरों पर प्रेस मालिकों को जमीन एवं भवन उपलब्ध कराये गये। मशीनों तथा अन्य वस्तुओं की खरीद में रियायतें दी गयीं । लिहाजा दोनों वर्गों ने आंखों ही आंखों में परस्पर उपकृत करने की ठान ली । राजीव काल में तो स्थिति और प्रदूषित हो गई । राजीव गांधी के 21 वीं सदी के नारे ने तो तमाम ताकतवरों के `पर` लगा दिए थे । `मटमैली पूंजी` का विस्फोट हुआ । पत्रकारिता में भी फिल्म जगत के समान काली पूंजी की गहरायी तक घुसपैठ बढ़ी । महानगरों एवं बड़े नगरों में भवन-निर्माणों से मालामाल हुए संस्कारहीन नव अमीरों ने इस संवेदनशील एवं अति उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवसाय में घुसना शुरू किया । अखबार पति बनने से इन नवअमीरों को एक नया `सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक रुतबा` भी हासिल हुआ । इनके लिए पत्रकारिता का उद्देश्य `लाभ और प्रभाव` कमाना रहा, जबकि प्रारंभ में पत्रकारिता का उद्देश्य समाज और राष्ट्र का हित था ।

इस काल से इस तरह दो धाराएं समानान्तर शुरू होती है, पत्रकारिता का उच्च व्यवसायीकरण और धंधाकरण । दूसरे शब्दों में, परम्परागत मालिकों ने व्यावसायीकरण के नाम पर सरकार से हर संभव सुविधा या छूट लेने की कोशिश की । इसके लिए वे सरकारी तंत्र पर अधिकाधिक आश्रित होते चले गए ।

इन सब स्थितियों का पत्रकार पर भी निश्चित रूप से असर पड़ा है । साक्षात्कार के दौरान भी यह बात साफ उभर कर आई कि जहां हिन्दी पत्रकारिता भौतिक रूप से समृद्ध हुई है, उसकी प्रसार संख्या और पाठक संख्या बढ़ी है, वहीं संपादकों की तनख्वाहें भी बढ़ी हैं, संपादक की गुणवत्ता के पैमाने बदल गए हैं, वह जनता से अलग एक विशिष्ट वर्ग तथा सत्ता वर्ग का आदमी बन गया है । पुन: रामशरण जोशी[1] के ही शब्दों में `दरअसल हिंदी पत्रकारिता में संपादक संस्था के पतन की प्रक्रिया अकस्मात नहीं हुई है । इसमें व्यापक पैमाने पर पूंजी नियोजन, सत्ता-गलियारों में मालिकों की गहरी घुसपैठ की आकांक्षा,

---

1. `हस्तक्षेप`, `आपातकाल के बाद हिन्दी पत्रकारिता` पर । राष्ट्रीय सहारा, 5 जुलाई, 1997

भू-माफियाओं एवं आधुनिक पिंडारी या फटपटिया पूंजीपतियों के बढ़ते वर्चस्व का पहला हमला ही संपादक संस्था पर हुआ । इस हमले ने संपादकों की जेबें जरूर मोटी कीं , लेकिन उनके प्राणों का हरण कर लिया गया । दोयम दर्जे के संपादकों ने प्रबन्धकों के सामने हथियार डाल दिए । क्षेत्रीय हिंदी पत्रकारिता में तो मालिक संपादक की परिपाटी लम्बे समय से चली आ रही है । अब महानगरों के हिंदी दैनिकों में संपादक संस्था के स्थान पर `ब्राण्ड मैनेजर` की संस्था को जन्म देकर इसे बिलकुल ही नपुंसक बना दिया गया है । संपादक संस्था के क्षय से हिंदी पत्रकारिता एक तरह से अराजकता का शिकार हो चुकी है ।` इस स्थिति के लिए राज्य, मालिक, पत्रकार और जनता समान रूप से जिम्मेदार हैं । वस्तुत: हिंदी पत्रकार की संपन्नता हिंदी पत्रकारिता की समृद्धि का पर्यायवाची नहीं है, राजकिशोर[1] ने इस स्थिति को समुचित तरीके से व्यक्त किया है, `मैं नहीं मानता कि हिंदी पत्रकारिता के सर्वश्रेष्ठ तभी आएंगे, जब हर पत्रकार अपनी गाड़ी में चलेगा । हिंदी यदि गरीब लोगों की भाषा है, तो उसके पत्रकार को भी सादगी से रहना होगा । बेशक यहसादगी तभी फबेगी, जब उसके साथ स्वाभिमान जुड़ा होगा । व्यापक गरीबी के बीच समृद्धि के कुछ टापू स्वाभिमान का हनन करते हैं और दासता पैदा करते हैं । इस दासता को हिंदी भाषी क्षेत्र का आदमी अपनी हड्डी तक में अनुभव करता है । जिस दिन उस की इस दासता के बंधन कटेंगे, उसकी पत्रकारिता मुक्ति का अनुभव करेगी । स्वतंत्र लोगों के बीच ही स्वतंत्र पत्रकारिता संभव है । या यों कहें कि स्वतंत्रता के संघर्ष में ही स्वतंत्र पत्रकारिता का विकास होता है ।` हिंदी पत्रकारिता में विचार और दिशा विहीनता की कीमत पर आए प्रसार व विस्तार के बारे में राजकिशोर आगे लिखते हैं -`वस्तुत: खुलेपन के पीछे जब कोई रचनात्मक उद्देश्य न हो, तो वह जकड़बंदी की तरफ ही ले जाता है । जब स्वस्थ संगठन नहीं रह जाते, तो गिरोहबंदियां सिर उठाने लगती हैं ।`

आपातकाल में प्रेस सेंसरशिप के पीछे इंदिरा गांधी का तर्क यह था कि प्रेस और पत्रकार बेलगाम हो गए थे । गैर जिम्मेदारीपूर्ण ढंग से लिख रहे थे । यूं बेलगाम और गैर जिम्मेदार होने का क्या अर्थ है, यह समझना मुश्किल है,

फिर भी अगर यह तर्क स्वीकार कर भी लें तो आपातकाल में जो समस्त सरकारी तंत्र तथा समस्त सूचना एवं प्रकाशन तंत्र विचार स्वातंत्र्य को दबाने तथा `इंदिरा इज़ इण्डिया, इण्डिया इज़ इंदिरा` जैसे निहायत ही गैर लोकतंत्रात्मक नारों व वक्तव्यों के वाहक बने उनको किस तरह से `जिम्मेदार` और न्यायसंगत समझा जाए ।

वस्तुत: आपातकाल और सेंसरशिप के आज कितने भी सकारात्मक निहितार्थ ढूंढे जाएं, पर उसको उचित ठहराना किसी भी तरीके से संभव नहीं है । मेरी समझ से खुद इंदिरा गांधी और सत्ता वर्ग के हित में भी नहीं ।

1977 के चुनावों में इंदिरा गांधी को 153 सीटें मिली थीं । अगर आपातकाल न होता तो भी आगामी चुनावों में उनको निश्चित रूप से 170 से अधिक सीटें मिलतीं, क्योंकि उन्हें तब उत्तर भारत में 25 से लेकर पचास सीटें तो मिलती हीं । लेकिन इस प्रक्रिया में जनता नहीं हारती, लोकतंत्र नहीं हारता, अभिव्यक्ति नहीं हारती, युवक और गरीब नहीं हारते, पत्रकार और पत्रकारिता नहीं हारती । हारतीं प्रतिक्रियावादी शक्तियां, हारतीं सत्ता, हारते शासक ।

दूसरी बात जो निकल कर आती है, वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में है । यह कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अनिवार्यता व्यक्ति की स्वतंत्रता से सीधे जुड़ी हुई है तथा वह इतनी मानवीय है कि उसमें सिर्फ मानव का ही हस्तक्षेप होना चाहिए, `सत्ता` का नहीं । अर्थात् अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबंध नहीं स्वीकार किया जा सकता । यह स्वतंत्रता पूर्णरूपेण सेंसरों से मुक्त होना चाहिए । अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं हो सकती, वस्तुत: एक सत्तावादी तर्क है, सत्ताओं का आग्रह है, जो कि हमेशा सत्ता के द्वारा अपने हित में तथा जनता के विरुद्ध प्रयोग किया गया । सच तो यह है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सूचना के मुक्त आदान प्रदान की गारंटी आवश्यक रूप से उस समाज की जीवंतता, जिजीविषा और जिंदा रहने के लिए आवश्यक प्रतिरोधी क्षमता से सहजात भाव से जुड़ी हुई है । मानव सभ्यता का विकास इसका प्रमाण है । जिस समाज में सूचना और अभिव्यक्ति

का निर्बाध आदान प्रदान नहीं हो, वह स्वतंत्र तथा मुक्त नहीं हो सकता । और जो स्वतंत्र नहीं हो, वह न जिम्मेदार हो सकता है और न दूसरों की स्वतंत्रता को सहन कर सकता है । रघुवीर सहाय के शब्दों से मैं अपनी बात को अंतिम रूप देना चाहूंगा --

'कुछ होगा, कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे, न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अंदर
एक कायर टूटेगा, टूट
मेरे मन टूट, एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट, मत झूठ मूठ अब मत रूठ ।'

ग्रंथानुक्रमणिका

परिशिष्ट {क} प्राथमिक स्रोत

परिशिष्ट {ख} द्वितीयक स्रोत

परिशिष्ट (क)

प्राथमिक स्त्रोत -

(१) 'धर्मयुग' साप्ताहिक	जनवरी १९७५ से मार्च १९७७ तक
(२) 'दिनमान' साप्ताहिक	जनवरी १९७५ से मार्च १९७७ तक
(३) 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' साप्ताहिक	जनवरी १९७५ से मार्च १९७७ तक
(४) पत्रकारों से साक्षात्कार	

परिशिष्ट (ख)

द्वितीयक स्त्रोत -

ग्रंथ

Karkhanis, Sharad Indian Politics and role of the press
Vikash Publishing House Pvt. Ltd.1981 Delhi

Keane,Jhon 'The Meida and Democracy
Politiy press,1991

Kumar, Krishna Social Character of Learning
Sage Publication,1988,Delhi

कुमार कृष्ण 'विचार का डर'
राजकमल प्रकाश, १९९६, दिल्ली

Gandhi ,Indir Selective speech and writing 1992-97 Publication Division, Information and Brodcasting Ministry ,Government of India, Delhi

Gerbner , Ji (Editor) 'Mass Media Politics in Changing Culture
New York, Jhon Wiley : 1977

जैन, रमेश (संपादक) भारत मे हिन्दी पत्रकारिता १९८९

Desai. A.R(Editor) Violation of Democratic Right in India
Popular Publication Bombay 1986

Desai. A.R States & Society In India : Essay in Dissent
Popular Publication, Bombay, 1975

Narayan, Jayprakash. A Revoluationary quest (collection of selected writing).
(Editor)Vimal Prasad. Oxford UniversityPress 1980 Delhi

Nandy, Ashish. At the Edge of Psychology.
Oxford Unviersity Press 1980 Delhi

Nayar, Kuldip. The Judgement Vikash Publishin Pvt. Ltd. Delhi 1977

पाश, अवतार सिंह उड़दे बाजाँ मगर

Parthsarthy, Rangaswami. Journalism in India Sterling Publishing pvt ltd. 1995 Delhi

बिरला, कृष्ण कुमार. 'इंदिरागांधी : अंतरंग संस्मरण'
विकास पब्लिसिंग हाउस, १९८८, दिल्ली।

Berelson, Bernard Content Analysis in communication Resarch Hafner publishing company, New York 174

Macpherson, C.B Political theory of Possesive Individualisms Oxford University press 1962

राकेश, मोहन 'अंधेरे बंद कमरे', राजकमल प्रकाशन (पेपर बैक संस्करण) दिल्ली।

Lasswell, Harold Language of politics Cambridge : M.I.T 1966)

Vasudev, Uma Two Faces of Indira Ghandhi Vikah publishing Pvt. Ltd. New Delhi 1977

वैदिक, वेद प्रताप (संपादक) हिंदी पत्रकारिता : विविध आयाम, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९७६, दिल्ली।

सिंह ,केदार नाथ जमीन पक रही है प्रकाशन संस्थान १९८० दिल्ली।

Sinha , Sachhidanand Emergency in Prespective Heritage Publisher , 1977, Delhi

Sills, D.L. (Editor) International and Encyclopedia of Social Science Chapter Communiation and Democracy. Macmillan Company and The free press, 1968 New York.

Schellenberg, James. A. Introduction to Social Psychology Random House 1977, New York

श्रीनिवास, एम.एन. 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

Horton, Philiph. C. (Editor) Thrid World and The Press Freedom, Sage Publication, Delhi

रिपोर्टें -

1. Shah Commission Report on Emergency Excesses, Home Ministry, Govt. of India. Vol. 1 & 2 (Interim Report) and vol. 3 (Final Report).

2. Press in India, Information and Broadcasting Ministry, Govt. of India. Vol. 1 & 2 year of 1972, 1973, 1976, 1980, 1981, 1982, 1991, 1993, 1994, 1995.

समाचार पत्र, पत्रिकाएं एवं लेख

1. Times of India, Delhi Edition, 25th June to 12th July 1995

(२) राष्ट्रीय सहारा, (दिल्ली), हस्तक्षेप, परिशिष्ट, दिनांक २७ जनवरी १९९६ एवं ५ जुलाई १९९७।

3. Vidura, (Trimonthly of Press Insititute of India) July 1995

4. Seminar, Feb. & March 1977.

(५) जनसत्ता, १३ जून १९७७, दिल्ली संस्करण

6. Hindustan Times, 26 June 1996, Delhi.